Municipal Library,

NAINI TAL.

Class No. 891.38

Book No. [illegible]

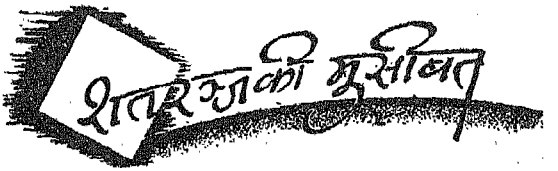

(हास्यरस की ६ कहानियाँ)

अनुवादक—

श्री रतनलाल बंसल

प्रकाशक—

विनोद पुस्तक मन्दिर,

आगरा

चमत्कार] अक्टूबर १९४९ [मूल्य १)

प्रकाशक—
विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा

Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल
Class No, (विभाग 891.38
Book No, (पुस्तक) ..... R 28 S
Received On. ..... July 1950

1931

मुद्रक—
बालकृष्ण बन्सल,
बन्सल प्रेस, आगरा

विषय-सूची

(कहानी का नाम)			पृष्ठ नं०
१—शतरञ्ज की मुसीबत	...	....	१
२—हॉस्टिल में पढ़ना	...	....	३१
३—मैं एक मियाँ हूँ	...	....	४६
४—मुरीदपुर का पीर	...	....	६०
५—मेबल और मैं	...	....	७४
६—सिनेमा का इश्क	...	....	८१

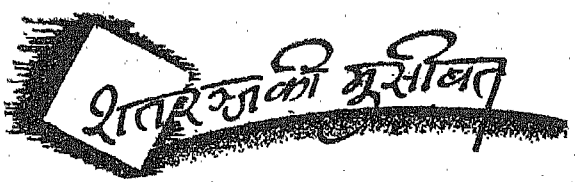

[क्या आप को भी शतरंज का शौक़ है और क्या आप एक सुन्दर सी पत्नी के पति भी हैं, तो आप इस कहानी को ज़रूर पढ़िये और देखिये कि कहीं इसमें आपकी ही कहानी तो नहीं है—अ०]

सुन्दर काले रङ्ग का चमचमाता हुआ जूता पहिन कर घर से बाहर निकलने का मज़ा तो तब है, जब मुँह में पान की एक गिलौरी भी हो। तम्बाकू का झन्नाटे दार रस लेते हुए जूता देखते हुए और बेंत हिलाते हुए चले जा रहे हैं, यही सोच कर मैं चलते चलते घर वापिस लौटा, जल्दी जल्दी स्वयं ही पान बनाया, लेकिन पानदान देखा, तो छालियाँ नदारद। विवश होकर श्री मती जी को पुकार कर कहा, "छालियाँ लाओ।" श्रीमती जी ने मेरी यह पुकार मामा को रिडायक्ट कर दी और तब मामा ने वहीं बैठे बैठे उत्तर दिया, "सामने ताक पर रक्खी हैं।" मैं दौड़ता हुआ ताक के पास पहुंचा; तो देखा कि एक तश्तरी में कटी और बेकटी छालियाँ रक्खी हैं। सरौता भी साथ में है, लेकिन ताज्जुब की बात यह थी कि शतरञ्ज की एक गोट भी छालियों के साथ कटी हुई रक्खी है। वह तीन टुकड़ों में थी, एक आधा और दो चौथाई। साफ मालूम होता था; कि

छातियों के धोखे में ही यह बेचारी भी सरौते के घाट उतार दी गई है। पर यहाँ यह आई कैसे ? गोट खोने का तो पहिले से ही मलाल था, अब उसकी यह दुर्दशा देखी, तो क्रोध से वैसा ही हाल हुआ, जैसा अलीबाबा का उस समय हुआ होगा, जब उसने अपने भाई के मृत शरीर को टुकड़ों टुकड़ों में पाया होगा। मैंने तुरन्त वह तश्तरी पत्नी के सामने लेजाकर पटक दी। उसने भौंहें चढ़ाकर देखा और तुरन्त उसके सुन्दर मुख पर आश्चर्य भरी मुस्कराहट आकर रह गयी। इसके पश्चात् कृत्रिम आश्चर्य के साथ उन्होंने तश्तरी मामा की ओर बढ़ादी। मामा ने तश्तरी देखते ही भौंहें चढ़ालीं, दांतों तले उँगली दाबली और आंखें फाड़दी। इसके पश्चात् गम्भीर स्वर में बोलीं, "जभी तो मैं सोचती थी कि या अल्लाह ! ऐसी सख्त सुपाड़ी कहाँ से आगई। कल अँधेरे में कट गई, तब से तश्तरी वहीं रक्खी है।"

मैंने कुछ स्वर चढ़ा कर कहा, "अजी यहाँ आई कैसे ?"

मामाने मुझे गुस्से में देखकर पत्नी की ओर एक छिपी हुई दृष्टि से देख कर कहा, "खुदा जाने, कहाँ से आई..... मैं तो.....।"

"मैं सब जानता हूँ" कह कर मैंने क्रोधभरी दृष्टि से पत्नी की ओर देखा और ज़ोर से कहा, "हँसती क्यों हो, मैं सब समझता हूं.....भला इन बातों से क्या फ़ायदा ! मेरी यह गुस्से से भरी बात सुनकर एक ओर तो वे हँसी, दूसरी ओर मामा के सुपुत्र महोदय ने कमरे में प्रवेश किया इस पर मैं जल भुन कर रह गया और मैंने यह कह कर कि "तमाम शरारत इसी की है", उसके कान खींच कर दो तीन तमाचे कस कर जमा दिये। यह तमाचे मानो मेरी पत्नी के लगे। उन्होंने तुरन्त उठ कर मेरा

हाथ पकड़ना चाहा किन्तु मैं मारता ही जा रहा था। अन्त में पत्नी ने रोक कर कहा, "आप मुझे मारलें, पर इसे न मारें, क्यों कि इसमें इसका जरा भी कसूर नहीं है।" मारना बन्द करके मैं बाहर चला आया। उस समय मैं क्रोध से काँप रहा था।

आप स्वयं न्याय कीजिये कि मेरा क्रोध उचित था या अनुचित। शतरंज का शौक़ पैदा हुआ, तो हाथी दाँत के मुहरे मँगाये। वे सुन्दर स्वच्छ और नाजुक थे पर खाँ साहब ने दो ही दिन में सबकी चोटियाँ तोड़ कर उनकी मिट्टी पलीत कर डाली बात यह थी कि खाँ साहब न मेज़ पर खेलते थे, न फ़र्श पर। उनका कहना था कि शतरंज तो तख्त पर ही जमती है, जिससे कि मुहरे पर मुहरा चलाने में ज़ोर का शब्द हो और खेलने वाले का हौसला बढ़ता रहे।

इसके बाद बनारसी मुहरे मगवाये। छोटाक़द, वज़न में हल्के और खूब सूरती का यह हाल, कि बस देखते ही रहने को जी चाहा करता है। मुश्किल से एक सप्ताह इन मुहरों से भी खेल चला होगा कि सफ़ेद मुहरों का एक पैदल खाँ साहब के साल भर के बच्चे ने निगल लिया। खाँ साहब ने उसके हलक में उगलियाँ डालीं, चित लेटाया पेट पर धमके लगाये, उलटा सीधा करके झकझोरा, किन्तु बेचारे पैदल का बच्चे के ऊपर से उद्धार नहीं हो सका। अब खाँ साहब सफ़ेद मुहरे खुद लेते और उस स्वर्गीय पैदल के स्थान पर अपनी अंगूठी रख देते। किन्तु इसके पश्चात् ही लाल मुहरों में से बादशाह सलामत सफ़ेद पैदल की याद में चल बसे। उनको भी बहुत खोजा पर सब व्यर्थ। उनके स्थान पर एक दो दिन दियासलाई की डिबिया रक्खी, फिर इत्र की एक खाली शीशी को यह सम्मान मिला

और वह बादशाह का काम देने लगी। इसके पश्चात् ही लाल बाजी का हाथी और सफ़ेद बाजी का घोड़ा कूच कर गया। खाँ साहब इस सम्बन्ध में अनुभवी थे। उन्होंने प्रारम्भ में ही कहा था कि "हो न हो मुहरे आपके 'घर में' ही चुरवाये गये हैं।" मैंने इस पर कहा था, "यह असम्भव है। भला उनको इससे क्या मतलब।" इस पर खाँ साहब अपनी सम्मति का प्रतिपादन करते और घंटों मगज़ खाली करते रहते, लेकिन मुझे यकीन नहीं आता था। खाँ साहब की दलील थी कि स्त्रियों को शतरंज से सौतिया डाह होता है। मैं जानता था कि मेरी पत्नी को भी शतरंज का खेल पसन्द नहीं है, पर वे इस प्रकार अड़ङ्गा लगायेंगी इस पर मुझे विश्वास नहीं होता था।

खैर, मुहरों की यह दो जोड़ी बर्बाद हो जाने के बाद खाँ साहब ने रामपुर से अमरूद की लकड़ी के बने हुए मुहरे मँगवाये रामपुर से अच्छे सुन्दर और मज़बूत मुहरे तो मिलना असम्भव है, फिर भी ग़नीमत थी। लेकिन इन मुहरों को आये भी चार दिन ही हुए थे कि यह दुर्घटना हो गई, यानी मामा ने छालियों के साथ एक मुहरे को भी पार कर दिया;

सबसे पहिले मैंने इस दुर्घटना का वर्णन खाँ साहब से किया। उन्होंने बाईं तरफ की डाढ़ी जो ज़रा नीचे आ गई थी, ऊँची करते हुए, आँखें चमका कर ऐनक के ऊपर से देखते हुए मुसकरा कर कहा—"मैं तो कहता था मिरज़ा साहब कि हो न हो यह आपके 'घर में' का ही फ़ितूर है। अजी साहब, यहाँ तो अपनी मरहूम (स्वर्गीय) बीबी से रोज जूती पैजार होती थी और अब मौजूदा बीबी साहिबा से भी दो तीन बार झाँय झाँय हो चुकी है; लेकिन मैं भी शतरंज के मामले में तनिक कड़ाई बरतता हूं। मेरा उसूल तो यह है कि यों घरवाली

को चाहे सोने के निवाले खिलाइये, लेकिन अगर वह शतरंज के मामले में तनिक भी नाक भौं सिकोड़े तो बस, उसे खा ही जाइये और तभी आपको शतरंज खेलने को मिल भी सकती है। वरना आप समझिये कि हर रोज झगड़ा होगा और शतरंज का नाम तक लेना मुश्किल हो जावेगा। वैसे आपका स्वभाव तो"""""। खैर इस मामले में मुझे कुछ ज्यादा कहना मुनासिब भी नहीं है।"

मैंने सोचा कि खाँ साहब की बात में कुछ सचाई तो है। लेकिन अब मुझे क्या करना चाहिये? मैं यह सोच ही रहा था कि खाँ साहब ने फिर कहना शुरू किया, "अभी कोई सत्रह साल हुए होंगे कि मरहूमा (स्वर्गीय) लड़ने पर उतारू हो गई। उसने पान भेजने ही बन्द कर दिये। अब आप ही सोचिये कि हम बाहर बैठे शतरंज खेल रहे हैं, मीर साहब भी बैठे हैं, लेकिन पान नदारद। वह किसी तरह पान भेजती ही नहीं थी। इस पर खूब ठनी और आखिरबड़ी मुश्किल से उसे बस में कर पाया।"

"वह कैसे?" मैंने पूछा

खाँ साहब ने सर हिलाकर कुछ ऐसी शान से कहना शुरू किया जैसे नेपोलियन को परास्त करने के बाद ड्यूक आफ वेलिङ्गटन ने प्रधान मंत्री से कहा होगा। बोले, "अच्छा सुनिये मैंने साफ़ साफ कहदिया कि बेगम साहिबा! यह लो अपने पाँच रुपये का दायज और घर की राह लो। बन्दा तो शतरंज खेलेगा और जरूर खेलेगा। आप पान बनायें तो बनाएँ वरना चलती फिरती नजर आइये।" बस, उसी दिन से पान बैठक में आने लगे।

"तो बात यह है मिरजा साहब यानी मेरा मतलब यह है कि औरतें शतरंज की विरोधी तो होती ही हैं, आपने इस बारे में ज़रा कमज़ोरी दिखाई कि वे सर पर सवार हैं।" अपने बाएँ हाथ की दो ऊँगलियों को दाहिने हाथ पर मारते हुए खाँ साहब ने कहा।

खाँ साहब का यह पुरजोश लेक्चर सुन कर मैं सोच रहा था। कि अब मैं क्या करूँ ? मैंने अगर अपनी धर्म पत्नी जी से कह दिया कि 'घर की राह लो' तो वे सीधी तूफान मेल की तरह अपने घर जा पहुँचेगी। एक मिनट की भी तो देर नहीं लगेगी और तब भला मेराजी घर पर कैसे लगेगा। इस लिये तार देने पड़ेंगे, खुशामदें करनी पड़ेंगी, दौड़ धूप होगी और उनको घर वापस लाना पड़ेगा। यह सब सोच कर मैंने खाँ साहब से अपनी पोज़ीशन साफ़ की और कहा "यदि वह चली गयी तो ?

खाँ साहब ने उत्तर दिया, "चली जाने दीजिये ? अरे क्याँ झख मार कर अपने आप वापस आवेगी। महीने, दो महीने, तीन महीने। भला वहाँ कब तक पड़ी रहेगी।" मैंने मन ही मन कहा, यही तो पूरी बीमारी है और खाँ साहब को बताया, "इससे मुझे भी तो तकलीफ़ होगी।"

"आप भी अजीब आदमी हैं" खाँ साहब ने ज़रा झुँझला कर कहा "आप शतरंज कभी नहीं खेल सकेंगे। लिख लीजिये कि आपकी 'घर में' आपका शतरंज खेलना बंद कर देंगी। आप कभी नहीं खेल सकेंगे।"

"यह आखिर क्यों ?" मैंने सशंकित स्वर में कहा।

खाँ साहब बोले, "लिख लीजिये·····बन्दे की बात याद रखियेगा। लिख लीजियेगा।"

"आखिर क्यों लिख लूँ ? कोई वजह तो बताइये।" मैंने फिर पूछा।

"वजह यह है कि·····" खाँ साहब ने दाहिने हाथ की मुट्ठी बाएँ हाथ पर मारते हुए कहा, "वजह यह कि आप मुआफ़ कीजिये, औरत के गुलाम हैं। यानी अपनी बीबी के गुलाम। उधर वह जावेंगी और इधर आप "हाय जोरू" हाय जोरू "करते हुए भजनू बन जावेंगे। भला ऐसे भी कहीं शतरंज खेली जाती है ? लाहौल विलाक़ूवत।"

मैंने अब निश्चय कर लिया कि श्रीमती जी से इस बारे में जरूर लड़ूँगा और कतई नहीं दबूँगा। भला, यह मेरा शौक है और उसे भी इसको मानना ही चाहिये।

इसके पश्चात् तीन चार दिन पत्नी से महाभारत होता रहा पर यह महाभारत "मौन" था। उधर वह चुप और इधर मैं चुप। स्त्री की सहायक थी घर का मामा और मेरे सहायक थे खाँ साहब। लेकिन पाँचवे दिन ही मुझे शतरंज बोझ सी मालुम होने लगी। यह मेरी निर्बलता थी, जी घबड़ा उठता था।

भगवान् इस 'मौन युद्ध' से बचायें, ऐसा मालूम होता था जैसे गैसों की लड़ाई हो रही है और प्रतिपक्षी का गैस दम घोंटे दे रहा है। बेचारे खाँ साहब तरह तरह के पैंतरे बताते थे, पर सब निष्फल। खाँ साहब अन्य युद्धों में निपुण थे किन्तु इस 'जर्मन गैस' का उत्तर तोप बन्दूकें क्या दें ? वे पुराने जमाने के सिपाही थे और उनको पता न था कि मौन का गैस क्या होता है। वे कभी कभी मेरी दुर्बलता पर झींकने लगते थे और

कभी कभी दाँत पीस कर कह उठते, "न हुआ मैं····दिखा देता····"

खाँ साहब एक तो फ़ौजी आदमी, फिर चतुर सेना पति भी। लेकिन जब सैनिक ही सहास तोड़ दें तो बेचारा सेनापति क्या करे। किसी तरह छटा दिन बीता। मैं अब हारी हुई लड़ाई लड़ रहा था। प्रयत्न तो बहुत किया, साहस भी बहुत जुटाया लेकिन आत्म समपर्ण करना ही पड़ा। अब समझौता हुआ, जिसकी शर्तें उतनी ही कड़ी और अपमान जनक थीं, जितनी बरसेलज़ की सन्धि तुर्कों के लिये थी। लेकिन किसी ने सच कहा है कि मुझे संङ्गीन की नोक और तलवार के बल पर समझौते पर हस्ताक्षर करने पड़े इस समझौते के नियम भी देखिये।

(१) "खाँ साहब से मित्रता तोड़ दूँगा। अगर वे घर पर आवेंगे, तो कहला दूँगा कि घर पर नहीं हूं, वैसे व्यौहार उनके यहाँ से रहेगा।"

(२) शतरंज खेलना बिल्कुल बन्द। अब कभी शतरंज नहीं खेलूँगा। खास तौर पर रात को तो कभी नहीं खेलूँगा।

(३) शतरंज के अलावा ताश भी नहीं खेलूँगा। हाँ, इतवार को खेल सकता हूं, लेकिन रात को तो कभी नहीं खेलूँगा।

(४) रात को देर से आऊँगा, तो समझा जावेगा कि शतरंज खेल कर आ रहा हूं और बिना सुबूत के मान लिया जावेगा कि शतरंज खेली गई। इस बारे में कोई बहाना नहीं माना जावेगा।

इस समझौते की पाँचवी और छटी शर्तें प्रकाश में लाना तो उचित नहीं, लेकिन सातवीं शर्त यह थी कि यदि समझौते पर

अमल नहीं किया गया, तो "तुम अपने घर खुश और हम अपने घर खुश।"

खाँ साहब से मैंने इस सन्धि और अपनी पराजय की चर्चा प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं की, फिर भी इतना मान लिया कि मुहरे मामा के लड़के के जरिये उड़वाये जाते थे। इसके पश्चात् सन्धि का हाल भी बता दिया और एक दिन यह भी कह दिया कि फ़िलहाल शतरंज मुल्तवी कर दी जाय, तो कोई हानि नहीं है।

खाँ साहब अनुभवी पुरुष थे। मेरी बात सुनते ही दाँत निकाल कर जाँघ पर हाथ मारते हुए पहिले तो लड़ाकू स्त्रियों को दुनियाँ भर की गालियाँ सुनाते रहे, उसके बाद बोले, "अरे अभी लौंडे हो, मुझसे बातें बनाने आये हो। पत्नी की जूतियाँ खाते हो और शतरंज खेलोगे ? खेलती शतरंज ? मुह"·····मैं कहता था न·····खैर। मेरी बला से, तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। पर इतना लिखलो कि एक दिन सर पकड़ कर रोओगे। घरवाली को इतना सर नहीं चढ़ाया जाता। अब तुम जानो और तुम्हारा काम। मुझे क्या; अगर कभी मिलोगे, तो दुआ सलाम कर लेंगे, बस। चाहे मेरी बात लिख लीजिये।"

खाँ साहब की बात सुन कर फुरेरी सी आगई। घर में आया तो पत्नी को फूल सा खिला पाया। सोचा शतरंज जाये चूल्हे में। इतनी सुन्दर पत्नी से शतरंज के लिये लड़ना सिर्फ़ हिमाकत है। कौन लड़े ? मारो गोली।

किसी ने सच कहा है कि चोर चोरी छोड़दे पर उठाया धरी नहीं छोड़ सकता। लगे हाथों इधर उधर कभी कदाप दो एक बाजियाँ हो ही जाती थीं। कभी खाँ साहब के यहाँ तो कभी

मीर साहब के यहाँ। लेकिन यह बात छिपती नहीं थी। पत्नी भी समझने लगीं कि कभी कभी में कोई दोष नहीं है। उसने स्वयं कहा, "मेरा यह मतलब नहीं था कि कसम खाने को भी न खेलो। खेलो ज़रूर, लेकिन ऐसा मत खेलो कि जम गये, तो उठने का नाम ही नहीं ले रहे हैं। वक़्त ज़रूरत दो एक बाजी खेल लेने में कोई बुराई नहीं है।

बेचारी पत्नी को क्या पता था कि "जब कभी" और शतरंज से कट्टर दुश्मनी है। "जब कभी" खेलने वाला खेलमें जमेगा ही क्या? नतीजा यह हुआ कि जो लोग मुझसे आठ आठ मातें खाते थे, वह मुझ को ही आठ आठ पिलाने लगे। दो एक दिन देर हुई तो पत्नी ने नाक भौं सिकोड़ी। जब जब कभी बड़ बड़ाई भी। ..."फिर वही शतरंज में आग लगने लगी। खाँ साहब के साथ फिर खेलने लगे। यह मुआ खाँ साहब.....।"

एक दिन पत्नी ने बाज़ार से बम्बई काम की साड़ियाँ मँगाई थीं। एक साड़ी उनको बहुत पसन्द आई, पर जेब में उतने दाम नहीं थे, जितनी साड़ी की कीमत थी। बार बार उसी साड़ी की बात करतीं और मैं जिस साड़ी को पसन्द करता था, उसे तेज साबित करती थीं। पर मैं करता भी क्या? ऐसे अवसर पर जो विवशता अनुभव होती है, उसे भुक्त भोगी ही जान सकते हैं। अब मैं कभी उस साड़ी को देख रहा हूँ, तो कभी अपनी पत्नी के सुन्दर मुख को देखता हूँ और सोचता हूँ कि "मेरा वश चलता, तो इस पर ऐसी हज़ारों साड़ियाँ न्यौछावर कर देता, पर किया क्या जाय?" पत्नी ने भी विवशता अनुभव की और एक ठंडी साँस लेकर चुप हो गई। मेरे लिये यह सब से बड़ी दुखप्रद बात थी। यों होने को तो

यह भी हो सकता है कि कहीं से रुपया जुटा कर यह साड़ी तो खरीद ही लीजाय, लेकिन यह एक दिन की बात तो है नहीं। आज साड़ी है, तो कल जम्फर इस लिये मन मसोस कर रह गया।

विवश हो कर एक दूसरी साड़ी चुनी गई और उसकी कीमत देकर मैं स्वयं चला कि अगर दूकानदार दस पाँच रुपये कम कर दें, या बढ़िया वाली साड़ी को आधे दामों पर दे दे, तो उसे ही खरीद लूँ। चलते समय पत्नी ने कहा "खुदा के लिये उधर से जाइयेगा यानी उधर हो कर।" उनकी उंगलियों का संकेत इस 'उधर' का भाव कर रहा था। अर्थात् मैं खाँ साहब का घर बचाता हुआ जाऊँ, जिससे शतरंज खेलने में ही न लगा रहूँ। इस समय स्वयं मेरी इच्छा शतरंज खेलने की नहीं थी, इस लिये हँस कर कहा, "मैं इतना पागल तो हूँ नहीं कि काम से चलूँ और शतरँज में लग जाऊँ।"

खाँ साहब की बैठक के आगे से निकला, तो फड़ जमा हुआ था जी न माना। मोटर साइकल की चाल कुछ धीमी की ही थी कि उसकी आवाज सुन कर खाँ साहब नङ्गे पैर ही बाहर निकल आये और चिल्लाते हुए बोले, "अजी मिर्जा साहब!" सुनते ही मैंने गाड़ी खड़ी की और उतर पड़ा।

"दूर ही दूर से निकल जाओगे? भला ऐसा भी क्या?" कह कर खाँ साहब ने हाथ पकड़कर मोढ़े पर बैठा दिया। इस वक्त एक नये खिलाड़ी मैदान में जमे हुए थे, जो दो मातें मीर साहब को दे चुके थे। अब मीर साहब की जगह एक दूसरे साहब से उनका मुकाबिला हो रहा था। बाजियाँ बराबर की थीं। खाँ साहब ने पिछली बाजियों का विवरण मुझे भी सुना दिया। मीर साहब ने भी बताया कि किस प्रकार पहिली

बाजी में खाँ साहब ने एक ग़लत चाल बता कर मीर साहब का घोड़ा पिटवा दिया था और किस तरह उन्होंने अपना रुख पैदल के मुँह में रख दिया था, नहीं तो उनके जीतने में शक ही क्या था। बल्कि वे तो जीत ही गये थे। बादशाह जिया बैठा था, सिर्फ एक घोड़े के शह की देर थी कि भूल से पैदल के मुँह में रुख रख गये, नहीं तो घोड़ा कम होने पर भी उन्होंने मात दे दी थी।

नये खिलाड़ी ने मीर साहब की हाँ में हाँ मिलाई। वे साहब कुछ और भी कहते, पर विवश थे क्यों कि खेल में बाधा पड़ती थी। इधर दूसरी बाजी का हाल सुनाने के लिये मीर साहब बेचैन हो रहे थे कि कैसे ग़ैर मामूली हालत में उनकी वह बाजी भी ख़राब हो गई, पर इधर खेल में मजा आ रहा था और वह जल्दी ही ख़तम भी हो गया। यह बाजी भी नये खिलाड़ी ही जीते थे।

मैं अब उठते हुए बोला, "अभी आया। कुछ कपड़ा ख़रीदना है। खाँ साहब ने पहिले तो हाथ पकड़ लिया, इसके बाद जब मैंने त्रिवाचा भरी, तो छोड़ दिया। दूकान पर पहुँच कर साड़ी ली। दाम भी नक़द ही दे दिये। दूकानदार भले आदमी थे और उनसे मेरी मित्रता भी थी, इस लिये असल क़ीमत पर कपड़ा दे दिया करते थे।

साड़ी लेकर लौटा, तो खाँ साहब के यहाँ शतरंज देखने लगा। बड़े काँटे की बाजी जमी हुई थी, क्यों कि मीर साहब नबागन्तुक को एक मात दे चुके थे और अब दूसरी बाजी भी चढ़ी हुई थी। मैंने खेल में मीर साहब को कुछ समझाया तो नये खिलाड़ी महोदय ने मेरी ओर भिन्ना कर देखा और बोला "जनाब! बोलने की नहीं ठहरी।" इस पर खाँ साहब तेज

होकर बोले, "मीर साहब क्या बिल्कुल अन्धे हैं। क्या उन्हें इतना भी नहीं दिखाई देता कि मुहरा पिट रहा है। क्या वे इतने अनाड़ी हैं ?"

"आप तो और भी साफ़ साफ़ बता रहे हैं ।" नये साहब बोले, इधर मीर साहब सचमुच अन्धे हो रहे थे और अगर खाँ साहब न बोलते, तो सचमुच उनका घोड़ा पिट जाता। वह घोड़े को पिटता छोड़ कर रुख चल रहे थे लेकिन अब रुख की चाल लौटाल कर उन्होंने घोड़ा पकड़ा।

नये साहब ने बिगड़ कर कहा, "चाल हो गई। लौटने की नहीं है।" मीर साहब ने कहा, "छुई मुई तो नहीं है, शतरंज हो रही है। चाल लौटालने की तो नहीं है, लेकिन मैंने चाल चली ही कहाँ है। मैंने रुख को छुआ और चाल भी हो गई ? यह क्या·····रोते हो।"

नये साहब ने कहा, "नहीं साहब ! चाल तो हो गई और आपको रुख वहीं रखना होगा। मैं चाल वापस नहीं दूंगा।" इतना कह कर उन्होंने रुख को उसी स्थान पर रख दिया, जहाँ मीर साहब ने पहिले रक्खा था। इसके बाद फुर्ती से उन्होंने अपनी चाल चली और मीर साहब का घोड़ा उठा कर अपनी मुट्ठी में भींच लिया। इस पर मीर साहब और खाँ साहब दोनों चीख उठे। मीर साहब को जो ताव आया, तो उन्होंने घोड़े को रुख से मार दिया। उनके प्रतिपक्षी ने भी रुख को रुख से मार दिया। मीर साहब ने क्रोध में आकर दूसरे रुख को रुख से मारा तो उन साहब ने भी अपने हाथी से रुख को मार दिया। तब मीर साहब ने अपने वजीर से जान-बूझकर उनके हाथी को परलोक गत कर दिया और वजीर पिटाकर मुहरों को बिसात पर पटक

कर कहा, "शतरंज खेलते हो कि रोते हो। यह लो, मैं तुम जैसे अनाड़ियों से नहीं खेलता।"

अब बाजी पर मैं बैठा, लेकिन न तो खाँ साहब की जबान बन्द रहती थी और न और साहब की ही। नतीजा यह हुआ कि मीर साहब मेरे मुहरे उठा उठा कर चलने लगे। यह "दो मुल्लाओं में मुर्गी हलाल" वाला मसला हो रहा था। नये खिलाड़ी महोदय यानी शेख जी पहिले से ही अच्छी शतरंज खेलते थे, फिर मीर साहब के हस्तक्षेप से उनको और भी मौक़ा मिलने लगा। बाजी बिगड़ने लगी। इतने में ही मीर साहब ने एक चाल फेरी, तो शेख जी ने उनका हाथ पकड़ लिया। मीर साहब चाल चल चुके थे, पर अब कहने लगे कि मुहरा मेरे ही हाथों में था। इस पर खूब झांय-झांय हुई और शेख जी मुहरे फेंक कर उठ गये। मैं भी चल देने के लिये उठा, तो मीर साहब ने कहा, "आओ, एक बाजी और हो जाय।" मैंने घड़ी देखी, तो अभी शाम ही हुई थी। शीघ्रता से मुहरे जमाये और खेल होने लगा।

मीर साहब रोजाना के खिलाड़ी थे, इसलिए बात की बात में उन्होंने मुझे मात दे दी। मैंने दूसरी बाजी बिछाई, तो उसमें भी हारा। तीसरी बाजी देर तक चली। उसमें मेरा पक्ष मज़बूत था, लेकिन अपने वज़ीर साहब धोखे से पिट गये। चाल फेरने की ठहरी नहीं थी इसलिये यह बाजी भी मीर साहब ही जीते और प्रसन्न होकर बोले, "तुम से क्या खेलें? हमारी शतरंज बिगड़ती है। कोई बराबर वाला हो, तो कुछ बात भी है।"

मुझे क्रोध आ रहा था। मैंने कहा, "मीर साहब! वे दिन भूल गये, जब चार-चार मात देता था, और एक नहीं गिनता था। मेरी शतरंज छूटी हुई है।"

मीर साहब भला कब चुप रहने वाले थे। मुझे और भी जलाते हुए बोले, "हार कर सभी यह कहते हैं।" इस पर बाजी फिर बिछ गई। इस बार मैं जीता और कोशिश करने लगा कि तीनों बाजियाँ उतार दूँ। दूसरी भी मैं जीत गया और अब तीसरी जमी हुई थी कि खाँ साहब ने सर उठा कर बाहर झाँका और बोले, "कौन है?" इसके बाद अपनी सारस जैसी गर्दन ऊँची करके मुझसे बोले, "लीजिये, लीजिये, वह दूत भी आ पहुँचा।"

आने वाला मेरा नौकर अहमद था, जो देख कर वापस जा रहा था। मैंने उसे बुलाया और पूछा, "क्यों कैसे आये थे?"

"कुछ नहीं साहब! देखने भेजा था।"

"और कुछ कहा था।"

"जी नहीं, बस यही कहा था कि देख कर चले आना जल्दी से।"

"तो देखो, क्या कहोगे जाकर? यह कहना कि खाँ साहब के यहाँ नहीं थे। यूसुफ़ साहब के यहाँ थे। .....लेकिन तुमसे तो कहा होगा कि सिर्फ़ खाँ साहब के यहाँ जाकर देखना, इस लिये सिर्फ यह कह देना कि मिले नहीं समझे।"

"धत्तेरे की," खाँ साहब बिगड़ कर बोले, "अरे भाई, तुम मर्द हो या चुग़द। यानी औरत न हुई ख़ुदा हो गई। "इसके बाद अहमद की ओर आग्नेय नेत्रों से घूरते हुए बोले, "जाओ, कह देना कि खाँ साहब के यहाँ थे। शतरंज खेल रहे थे और ऐसे ही खेलेंगे।"

"नहीं, नहीं, देखो," मैंने सहमते हुए कहा, पर खाँ साहब

बात काटते हुए बोले—"बस अब जाओ यहाँ से, कह देना शतरंज खेल रहे हैं।"

"मत कहना," मैंने कहा, "अभी आता हूँ।"

अहमद चला गया और अब खाँ साहब ने मुझे आड़ों हाथों लिया। अनेकों प्रस्ताव उन्होंने मेरे सन्मुख उपस्थित कर डाले, "डूब मरो,—दूसरा विवाह कर लो,—घर छोड़ दो," इत्यादि, इत्यादि। और इन सब प्रस्तावों का मूलाधार यही था कि ऐसी पत्नी की आज्ञा के कारण शतरंज विहीन जीवन बिताने की अपेक्षा मृत्यु कहीं सुख कर है।

इन प्रस्तावों में से कोई प्रस्ताव मेरे मन नहीं चढ़ सका। लेकिन इस बहस में मेरा एक रुख पिट लिया। इतने ही में मैंने भी मीर साहब का वजीर पीट लिया। इस पर अपनी आदत के मुताबिक मीर साहब बोले, "लाओ इधर वजीर को, मुहरे हाथ से छीनते हो, अभी तक तो मेरे हाथ में ही था।"

मैंने कहा, "यह नहीं ठहरी। वजीर को मैं नहीं लौटाऊँगा। आपने भी तो मुझसे घोड़ा चलवा ही लिया था।"

खाँ साहब मीर साहब की तरफ़दारी में थे, लेकिन मैं यदि इस बाजी में जीत जाता, तो मैं मीर साहब से बराबर हुआ जा रहा था, इसलिये मैंने कहा कि मैं चाल नहीं चलूंगा। इस पर खूब तू तू मैं मैं हुई, और जब मैं किसी तरह नहीं माना, तो मीर साहब ने मुहरों को मेरे मुँह पर फेंकते हुए क़सम खाई कि अब वे मेरे साथ कभी नहीं खेलेंगे। उन्होंने कहा,

"नालत उस पर जो अब कभी तुम्हारे साथ खेले। बेईमान कहीं के।" मैंने भी उनके यही शब्द दुहरा दिये और उठने लगा, तो खाँ साहब हाथ पकड़ कर बोले, "भाई! यह तो कुछ

भी नहीं हुआ। बराबर की रह गई। आखिर कोई तो हारता। मीर साहब यह सुनते ही बोले, "मैं जीता।" मैंने फौरन कहा, "सरासर झूँठ। हम बराबर रहे हैं।" खाँ साहब ने फैसला करते हुए कहा, "अच्छा एक और हो जाय।" मीर साहब बोले, "वाह खाँ साहब! मुसलमान होकर भी मेरी कसम पर यकीन नहीं करते। मैंने अभी तो कहा था कि लानत उस पर, जो अब इनके साथ खेले।"

मैंने मीर साहब से कहा, "मीर साहब! यह शतरंज है शतरंज। अभी कुछ दिन सीखिये।"

"अरे जाओ भी।" मीर साहब ने उसी तेजी से कहा, "बहुत खिलाड़ी देखे हैं। जाने कितने तो सिखा कर छोड़ दिये। अभी कुछ दिन और खेलो।" कहते हुए मीर साहब चले गये। खाँ साहब ने मुझे नहीं जाने दिया। वे मेरे लिये भीतर से पान लाए, उसके बाद मोटर साइकिल की बत्ती जला कर मैं घर को चल दिया।

जैसे ही सामने के मोड़ पर घूमा तो मालुम हुआ कि कोई आदमी मुझे रुकने का इशारा करता हुआ पीछे पीछे भागा आ रहा है। मैंने मोटर साइकिल रोकी, तो मालुम हुआ कि मीर साहब हैं। पास आकर हाँफते हुए बोले, "अजी मिर्जा साहब। मैंने खूब हिसाब लगा कर देखा है कि इस आखिरी बाजी को छोड़ कर भी मेरी दो बाजियाँ आप पर चढ़ी रहीं।"

मैंने कहा, "कतई झूँठ। मेरी ही आप पर होंगी। आप शायद उस दिन की बाजी भी जोड़ रहे हैं, जिसमें आपका रुख कम था।"

"क्यों नहीं, अवश्य लगाऊँगा।" मीर साहब बोले।

"यह कैसे ? खाँ साहब की बाजी अगर मैं देखने लगा और उनको एक आध चाल बता दी, तो वह बाजी मुझ पर हो गई।"

"अच्छा वह जाने दो। फिर भी एक बाजी तो मेरी रही ?"

"वह कौन सी ?"

"वही जो शौकत साहब के यहाँ हुई थी"

"कौन सी ? कौन सी ? भाई मुझे तो याद नहीं आती।"

"हाँ, हाँ, भला ऐसी बातें तुम्हें क्यों याद आने लगीं। बिल्कुल बच्चे हो न ?"

"मुझे तो याद नहीं मीर साहब कि आपकी कभी मात खाकर भी उठा हूं। हमेशा या तो चढ़ा कर उठा हूं और या बराबर करके।"

"अरे क्यों ! एक दिन खुदा को सब को मुँह दिखाना है। एक बाजी के लिये क्यों अपनी आवक़त ख़राब करते हो। रसूल तक से नहीं डरते हो, न शर्म आती है। मात पर मात खाते हो और भूल जाते हो।"

"मीर साहब आप तीन जन्म लें, फिर भी तो मुझे मात देने का ख्वाब नहीं देख सकते। यह और बात रही कि भूल चूक में एकाध बाजी पड़ी मिल जाय।"

"अरे तुम बेचारे क्या खाकर खेलोगे। घर वाली तो बस में आती नहीं और मियाँ शतरंज खेलने चले हैं। अभी दस वर्ष तक तो रुख उठा कर खिलाऊँगा क्या बताऊँ, कसम खा चुका हूं, वरना अभी बता देता।"

"मीर साहब ! यह शतरंज है, कभी ख्वाब में भी जीते हो।"

'तो मेरी क़सम तुड़वाने पर उतारू हो ?"

"अभी शतरंज सीखिये।" कहकर मैंने पैडल पर पैर मार कर गाड़ी स्टार्ट की ही थी कि मीर साहब ने गाड़ी का हैण्डिल पकड़ते हुए कहा, "तो फिर एक बाजी मेरी तुम्हारी रही।"

"झूठ बात" मैंने कहा, लेकिन मीर साहब गाड़ी के आगे आकर बोले, "माननी पड़ेगी।" मैंने कहा, "नहीं मानता।" मीर साहब फिर बोले, "तो फिर अभी आजाओ। क़सम तो खाली टूटेगी ही, पर आखिरी फैसला भी हो जायगा।"

मैंने कुछ सोचा। बात सच थी। यदि खेलूँगा, तो मीर साहब क्या जीतेंगे। बस मैं सहमत हो गया कि एक ही बाजी पर आखिरी फैसला हो जायगा। मैं हारूँ या वे हारें। जो हारेगा वह हमेशा के लिये हारा हुआ समझा जावेगा। मैंने अपनी गाड़ी मोड़ दी।

खाँ साहब की भलमनसाहत भी देखिये। आवाज सुनते ही साँकल खोलदी। भोजन से उठे हुए चले आ रहे थे। हम लोगों को देखते ही फिर घर में घुस गये और थोड़ी देर में ही वापस आये तो एक हाथ में लालटेन थी और दूसरे में थाली। बहुत कुछ मना किया पर खाँ साहब ने खिला कर ही छोड़ा। और खाँ साहब की बीबी का भी शुक्रिया कि तुरन्त अन्डे बना कर भिजवा दिये। खाने के बाद हम दोनों ने अपना मामला खाँ साहब को सुनाया और किस्सा कोताह यह कि शतरंज फिर जम गई। मुझे घर जाने की जल्दी थी और डर था कि 'वे' न जाने क्या सोच रहीं होंगी, फिर भी एक बाजी तो खेलना ही क्या ?

शुरू से ही मेरी बाजी चढ़ती गई और मैंने तावड़ तोड़ दो चार चालें चल कर मीर साहब का वज़ीर दाब लिया। यह

देखते ही मीर साहब ने यह कह कर कि "इत्तिफाक की बात है। कम्बख्त नजर ही चूक गई", अपने मुहरे फेंक दिये। मैं उठकर चलने लगा क्यों कि देर हो रही थी, तो खाँ साहब ने हाथ पकड़ कर कहा, "एक बाजी और रहेगी।" मीर साहब खामोश थे। मैंने कहा—"अब हम दोनों बराबर हो गये। इस लिये कोई जरूरत नहीं है।"

खाँ साहब ने हँस कर कहा, "तय यह होना चाहिये कि कौन खिलाड़ी बढ़ कर है। बराबर रहने से यह फैसला नहीं होता।" इस पर मीर साहब इतवार वाली बाजी जोड़ कर फिर कहने लगे कि मैं तो अब भी एक बाजी की जीत में हूं। इधर 'उनका' भय मुझे मारे डाल रहा था और इधर मीर साहब की गर्वोक्ति और खाँ साहब का आग्रह। आखिर फिर एक बाजी जमी, वह बराबर रही। उसके बाद फिर एक जमी उसमें मैं बड़ी चतुराई से खेला फिर भी वह बराबर रही। मैं घबड़ा कर उठा। घड़ी पर नजर डाली, तो होश फाख्ता हो गये। साढ़े बारह बजे थे।

सोचा, बड़ी देर हो गई है। अब क्या हो? पत्नी कहेगी, लड़ेगी खूब लड़ेगी, बड़ी गड़बड़ी करेगी। शायद सुबह तक लड़ती ही रहे। क्या किया जाय? कुछ देर तक सोचता। रहा इसके बाद एक युक्ति सूझी। सीधा बजाज की दूकान पर पहुँचा। दूकान बन्द थी, लेकिन घर मालूम था। घर भी जाकर खटखटाया। लाला जी घबराये हुए बाहर निकले। मैंने अपना आशय कहा, "वह बढ़िया वाली साड़ी दे दीजिये। अभी चाहिये अभी।" लालाजी घबड़ा कर बोले, "कुशल तो है।" मैंने कहा, "सब ठीक है, लेकिन साड़ी अभी दे दीजिये।" लालाजी ने टरकाना चाहा, पर मैं कब मानने वाला था।

लालाजी ने दो आदमी साथ लिये, दूकान खोली और पहली साड़ी वापस लेकर मुझे बढ़िया वाली साड़ी दे दी। अब मैं डरते डरते घर की ओर चला। फाटक में घुसते ही इंजन रोक दिया और गाड़ी को ठेलते हुए अन्दर ले गया। दरवाजे पर पहुँचा तो अपना ही कुत्ता सर पर सवार। किसी तरह उसे चुप किया और रास्ता खोजने लगा। दरवाजे सब बन्द थे। याद आया। कि गुसलखाने की चटकनी ढीली है, पर वहाँ भी काम याबी नहीं मिली। मजबूर होकर आँगन की दीवार पर चढ़ने की ठानी। नीम के नीचे भैंस बँधी थी उसकी नाँद पर खड़े होकर एक पैर दीवार पर रखकर दूसरे के सहारे अन्दर घुसा। धीरे धीरे सोने के कमरे की ओर पैर बढ़ाये। सब तरफ सन्नाटे का आलम था। मैंने फुर्ती से कपड़े बदले और लिहाफ के भीतर घुस गया।

मैं समझा था कि वह सो रही है, लेकिन वह जग रही थी। जताने के लिये वह झूठ मूठ खाँसी। इधर मैं भी खखारा। यानी जागभी रही हो, तो क्या कर लेगी मेरे पास बढ़िया वाली साड़ी जो है। एक और करवट उन्होंने ली और फिर कुछ बड़बड़ाई, जिसको मैं समझ नहीं सका। इस पर मैंने कुछ सीना फुलाकर कहा, "क्या जागती हो।"

"तुम्हारी बला से। तुम शतरंज में आग लगाते रहो। मैं तो कल चली।"

"तुम भी अजब आदमी हो।" मैंने डाट कर कहा, "बजाज के यहाँ गया, वहाँ खाँ साहब से भेंट हो गई और बरबस उन्होंने वही प्याजी रंग वाली साड़ी दिलवादी। मैंने बहुतेरा कहा कि भाई! दाम नहीं है, पर..... ।"

"फिर"—पत्नी ने बेचैनी से कहा, "फिर वह साड़ी क्या हुई।"

"होती क्या? वह साड़ी लेकर खाँ साहब के घर आया। उन्होंने भोजन कराया। इसके पश्चात् दो चार व्यक्ति···।"

"होगा। होंगे दो चार व्यक्ति। फिर वह प्याजी रंगवाली साड़ी·····।"

"यह लो, कह कर मैंने साड़ी वाला बंडल निहायत लापर्वाही से उसके लिहाफ़ में फेंक दिया। उसने लैम्प को तेज कर बंडल खोला इसके बाद साड़ी को खोल कर देखा। अब उसके नेत्रों में मेरे प्रतिक्रोध के स्थान पर प्रेम लहरा रहा था। शतरंज की सारी बात वह भूल चुकी थी।

"वह मारा अनाड़ी को' मैंने मन ही मन कहा।

बहुत दिनों तक इसी साड़ी के बल पर देर से आता रहा। खूब शतरंज होती, जैसे पहले होती थी। अंतर केवल यह था, कि पहिले मेरे घर पर होती थी, लेकिन अब खाँ साहब का घर आबाद होता। लेकिन कुछ ही दिनों में मेरी गैर हाजरी और शतरंज पर फिर 'उनकी' भौंहें चढ़ने लगीं। वास्तव में मामा ने पत्नी को उभारना शुरू कर दिया था। धीरे-धीरे पत्नी ने पुनः पेंच कसने प्रारम्भ किये पर शतरंज होती ही रही।

कहते हैं कि "सारी खुदाई एक तरफ़ और जोरू का भाई एक तरफ़।" तो वे कदाचित् पूर्ण भाई थे। अर्थात् रूप रंग चाल ढाल में तिल भर का भी तो अन्तर न था। उम्र में केवल घण्टे भर बड़े थे। ऐसे बहिन-भाइयों में भी ग़ज़ब की मुहब्बत होती है और इसी लिए मेरी पत्नी को उनसे और पत्नी के कारण ही मुझे भी अमीर स्नेह था। बेचारे पहिली बार बहिन

के यहीं आये थे। भाई नाम सुनते ही बहिन का यह हाल, कि नंगे पैर दौड़ कर ही उससे लिपट गई। भाई भी प्रेम विव्हल थे। बहिन की गर्दन का चुम्बन लिया और फिर दोनों घंटों इस प्रकार बात करते रहे कि मुझे उनके पागल हो जाने की आशंका होने लगी। बहिन की भाई के लिये ऐसी मुहब्बत थी कि मुझे भी उससे डाह होने लगी इससे साबित होता है कि "साले को एक तरफ" कहने में कितनी वास्तविकता है शायद यह भी भाई की ही मुहब्बत थी कि मुझे एक कोने में लेजाकर बड़े प्रेम से बोलीं "देखो, अब दो चार दिन शतरंज न खेलना। बिल्कुल मत खेलना।"

मैंने उनके सुन्दर मुख को देखा। कितनी मुहब्बत से उसने मुझ से कहा था। कदाचित् इसी हाव-भाव ने बुल परस्ती की नींव डाली होगी। पत्नी की आँखों के नीचे एक तिनका लगा हुआ था, मैंने उसे हटाने के लिए उँगली बढ़ाई पर उसने नेत्र झपकाकर स्वयं उसे हटा दिया और बड़ी मुहब्बत से फिर कहा।

"देखो, अब शतरंज मत खेलना।"

मैं क्या उत्तर दूं? इतने में ही भाई ने पुकारा, "बिट्टो।" "आई।" वह चहचहाई और उधर जाने को ही थी कि भय्या स्वयं आ गये। "क्या कर रही है?" अपने सुन्दर मुख को अनोखे ढंग से घुमा कर उन्होंने कहा और मुस्करा दिये।

एक ठंडी साँस भर कर पत्नी ने कहा, "शतरंज को मना कर रही थी।"

"क्यों?"

"दिन भर खेलते हैं, रात भर खेलते हैं और वे मुए खाँ साहब हैं कि……।"

"भाई, ईश्वर के लिए शतरंज छोड़ दीजिये। आप ब्रिज नहीं खेलते ? ब्रिज खेला कीजिये।"

पत्नी बोली, "हाँ ब्रिज खेलें, पर यह शतरंज तो।"

बड़ी खराब है भाई ! बिट्टो, तू इनकी शतरंज जला दे।"

मैंने कहा, "रहा खटका न चोरी का, दुआ देता हूँ रहजन को।"

पत्नी चमक कर बोली ! "वह बेशरम खाँ साहब जो हैं, उनके यहाँ जाकर खेल लेंगे। क़सम खाइये जब तक भय्या हैं शतरंज नहीं खेलूँगा।"

मैंने क़ौरम हुक्म की पाबन्दी की और खुदा को हाजिर नाजिर करके हलफ़ उठाई कि शतरंज नहीं खेलूँगा।

चलते समय श्रीमती जी मुस्करा कर बोलीं "उधर से जाइये, उधर से।"

मैंने उनके भाई से कहा "देख रहे हो इनका पागलपन।"

भाई बेचारे नहीं समझ सके कि "उधर से" का मतलब खाँ साहब की तरफ़ होकर जाने से है। मैं तो चल दिया पर बहिन भाई को अपने इस सूझ का भाष्य समझाती रहीं।

"वाह भाई वाह अन्धेर करते हो" कहते हुए खाँ साहब हाथ का सिगनल दिये हुए रास्ते में खड़े मिले। मैंने गाड़ी रोक ली पर उससे उतरा नहीं। बैठे ही बैठे जवाब दिया "काम से जा रहा हूँ।"

"ऐसा भी क्या काम ? जरा तो बैठो," कह कर खाँ साहब ने हाथ पकड़ कर खींचा

"अरे मिर्ज़ा साहब ! मिर्ज़ा जी", मीर साहब बैठक से

बोले, "तनिक देखो, आपको खुदा की क़सम, तनिक देखो कि लालाजी का वज़ीर कैसा घेरा है।"

"नहीं हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे।" खाँ साहब ने घसीटते हुए कहा।

मैंने बताया, कि मुझे बैरिस्टर साहब के यहाँ जाना है और वहाँ से मोटर लाकर साले साहब तथा उनकी बहिन को शहर भर के दर्शनीय स्थान दिखाने हैं। इतवार को वैसे भी किसी भले आदमी की मोटर मिलनी मुश्किल है, इस लिये अभी से कह आना चाहता हूँ।

"लाहौल बिला क़ूवत" बात सुन कर खाँ साहब बोले, "हम तो समझे थे कोई काम होगा। तुमने तो बिल्कुल डरा ही दिया था ज़रा सोचो तो भाई! अच्छा ज़रा भीतर तो चलो।"

"मैं नहीं रुक सकता।"

"अरे तनिक देर को ही सही बस दो ही मिनट को। सिर्फ़ पान खाते जाओ और कुछ मत करना।" यह कहकर खाँ साहब ने मुझे घसीट लिया। अपनी सफलता पर वे ऐसे प्रसन्न हो रहे थे, जैसे कहीं का किला फ़तह कर लिया हो। बैठक में दाखिल हुआ, तो खुशी के मारे मीर साहब भी उछल पड़े और बोले,

"वाह भाई मिर्ज़ा, क्या बताऊँ तुम न आये। देखो इनका वज़ीर यहाँ था। मैंने पैदल जो आगे बढ़ाया तो·····।"

"तो मुहरे आप अपनी जगह से क्यों हटाते हैं, खेलना हो तो खेलिये नहीं तो," कह कर लाला साहब ने मीर साहब को चुप कर दिया और खाँ साहब ने बात-चीत शुरू की,

"हाँ तो आप क्या कह रहे थे। हाँ तो, बात यह है कि

अभी तुमको तजुर्बा नहीं है। भला औरतों को मोटरों की सैर से क्या फ़ायदा ? अरे तनिक शऊर सीखो, तभी तो यह हालत है कि आपकी "घर में" शतरंज तक नहीं।"

"नक़शा देखो अरे रे" मीर साहब ने जोर से खाँ साहब का हाथ पकड़ कर हिला डाला, "बादशाह को क्या घेरा है," अपना बजीर पिटा कर और लालाजी को सम्बोधित करके— "मारिये बजीर लाला साहब। बजीर मारना पड़ेगा, मारो तो मात न मारो तो मात यह लो मुहरे।"

मीर साहब ने वाकई खूब मात दी थी, पर अब मैं उठने लगा।

"भाई हम न जाने देंगे, बिना पान खाये हुए। अरे पान लाना।" खाँ साहब ने भीतर पुकारा और फिर कहने लगे, भाई कोई बात भी है। औरतों को पहिले तो घुमाना ही मना है और फिर तुम यह भी देख ही रहे हो कि दिन ब दिन तुम्हारे घर की हालत बिगड़ती ही जा रही है। आज शतरंज को मना करती है, कल कहेगी कचहरी मत जाया करो। छोड़ो इन बातों को और कुछ न सही, तो एक बाजी मीर साहब की तो देख ही लो। चले जाना, जल्दी काहे की है।"

"मीर साहब का खेल मैंने बहुत देखा है। आज मुझे जरा जल्दी है।"

"मेरा खेल, मेरा खेल देखा है ? यह कहो दिल्लगी देखी है। तुम्हारे साथ खेलता थोड़े ही हूँ, दिल्लगी करता हूँ। उस दिन की याद है ?"

"उस दिन बाजी भी आपकी खूब चढ़ी हुई थी," खाँ साहब ने भी कहा।

"जी हाँ," मीर साहब बोले, "मैं ढील देकर काटता हूँ, अनाड़ी को बढ़ाकर मारता हूँ, एक तो मेरी हज़रत पर अब भी चढ़ी हुई है।"

"मर गये चढ़ाने वाले, मीर साहब, यह शतरंज है।" आखिर मुझे भी कहना ही पड़ा।

"फिर आजाओ न—तुमही आजाओ।"

"भई होगी—होगी—हटो—हटो," खाँ साहब ने शतरंज अपनी ओर खींचते हुए कहा, "बस एक बाजी होगी।"

"नहीं साहब, मुझे जाना है। बहुत जरूरी काम है।"

"हम आदमी भेज देंगे। देखा जायगा। अभी बैठो, देखो बस एक।"

मैंने घड़ी की ओर देखा। जम्हाई ली और कहा, "अच्छा लाओ, एक बाजी मीर साहब को मात दे ही दूँ। लेकिन बस एक ही होगी।"

एक बाजी मीर साहब पर सचमुच हो गई और बड़ी जल्दी हो गई। मैं उठने लगा, तो खाँ साहब बाँह पकड़ कर बोले, "भई यह तो इत्तिफाक था। यह कुछ नहीं, एक और खेलो।"

पहिली बाजी बहुत जल्दी हो गई थी, इसलिये मैं एक और के लिये भी तय्यार हो गया। लेकिन इत्तिफाक की बात कि दूसरी बाजी उससे भी चटपट हो गई। मीर साहब के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, दस मिनट में दो दो बाजी। खाँ साहब ने फिर बाँह पकड़ ली और बोले, "यह भी कुछ नहीं। एक और होगी।"

इसके बाद एक के बाद दूसरी पाँच बाजियाँ मीर साहब पर हुईं। अब जाने का ख्याल मेरे दिल से काफूर हो चुका

था और विजय की प्रफुल्लता ने पत्नी के समस्त आदेश निर्देश को आत्मसात् कर लिया था। सोचा क्यों न दो और बाजियाँ करके मीर साहब पर लेगड़ी बाँधू इसके बाद दो बाजियाँ और करके यानी पूरी नौ करके नौशिखाँ कर दूँ। अवश्य करूगा अभी बहुत समय है।

मैंने कहाँ, मैं जाता हूँ, बरना लँगड़ी के लिये रस्सी मँगवाइये। मीर साहब क्रोध में भर कर स्वयं चारपाई की रस्सी निकालने लगे, किन्तु मीर साहब ने भीतर से रस्सी मंगवादी अब शतरंज का दौर फिर से चला।

एक बज गया। घड़ी पर नज़र पड़ते ही मैं चौंका। अगणित बाजियाँ हो चुकी थीं किन्तु न तो मुझे लँगड़ी नसीब हुई और न नौशिखाँ ही। रात बीते खेल समाप्त हुआ। मैं शतरंज फेंक कर सीधा घर भागा। फाटक पर जब साइकिल रोकी, तो ठीक सवा बजा था। "या खुदा! अब क्या करूँ!" मैंने हताश होकर कहा। पत्नी क्या कहेगी, उनके भाई साहब क्या कहेंगे? मैंने भी कैसी बेवकूफी की। बड़ी लड़ाई होगी। लेकिन किया क्या जाय, जो होना था वह हो चका था।

उसी दिन की भाँति भैंस की नाँद पर पैर रखकर चढ़ा और मामा के कमरे के सामने होता हुआ निकल गया। कमरे में अन्धकार था, टटोलकर कपड़े उतारे। सलीपर बगल में दाब बराबर वाले कमरे में घुसा, जिसमें 'भय्या' का पलंग था बड़ी अक्लमन्दी से जानवरों की तरह चारों हाथ पैरों से चलना तय किया। इसके अलावा कोई रास्ता ही नहीं था। आधी यात्रा पार करते ही माथे पर मेज़ लगी और ऊपर से गर्दन पर कोई चीज़ इतनी ज़ोर से गिरी कि उस अँधेरे में भी

आँखों तले अन्धेरा छा गया। दुबक कर बैठ गया। मुझे मालूम था कि भाई साहब बहिन से भी गहरी कुम्भकर्णी निद्रा सोने वाले हैं। इसके बाद बिना यह देखे हुए कि कौन सी चीज़ गिरी थी, रेंगकर कमरे से बाहर निकल आया। अब श्रीमतीजी के दर्वाजे पर पहुँचा। ईश्वर की कृपा से यहाँ भी अन्धेरा था। फिर उसी तरह जानवरों की चाल शुरू हुई। चुपके चुपके पलंग तक पहुँचा और गड़ाप से लिहाफ़ ओढ़ कर पड़ रहा।

प्रातःकाल आँख देर से खुली, तो देखता हूँ कि पत्नी बिछोने सहित लापता हैं। अरे! निकलकर देखा, तो सब मामला ही उलट पुलट है। यानी न भय्या हैं न श्रीमतीजी हैं, न मामा है। नौकर ने कहा, "रात को बारह की गाड़ी से सब चले गये।"

न तो नाश्ता करने को जी चाहा और न कुछ और काम करने को। बड़ी व्याकुलता रही। अँधेर हो गया। जो कमरे 'भय्या' और श्रीमतीजी के वार्तालाप से चहकते थे, उनमें अब सन्नाटा था। इधर घूमा उधर घूमा। घर उजाड़ मालूम होता था। एक दम क्रोध आया कि चलूँ खाँ साहब के यहाँ, फड़ जमेगा। कपड़े पहिने, लेकिन जी बेचैन हो उठा।

किसी प्रकार तीन बजे। अब वह घर पहुँची होगी। तार दिया—"जल्दी लौटो, तार से जवाब दो।" पर जवाब नदारद समय बीत गया, तो दूसरा जवाबी तार दिया कि 'जल्द आओ।" उत्तर मिला 'नहीं आते।" फिर जवाबी तार दिया, 'शतरंज नहीं खेलेंगे।" रात बीते जवाब मिला, "खूब खेलो।" अब रात को बारह की गाड़ी से स्वयं ही चल दिये।

ससुराल पहुँचा। सास ससुर श्रीमतीजी से नाराज थे, लेकिन वह, चलने को जभी तय्यार हुई, जब खुदा, रसूल,

ज़मीन, आसमान, क़ुरान, उनकी, मय्या की और उसकी मुहब्बत की क़सम खाई। फिर भी बड़ी मुश्किल से तय्यार हुई। उस दिन से शतरंज ऐसी छूटी है कि ज़िक्र से बाहर। लेकिन कभी कभी सोचता हूँ कि कोई तरकीब तो निकलनी ही चाहिए। क्या कोई खिलाड़ी इसमें मदद देने की मेहरबानी करेगा ?

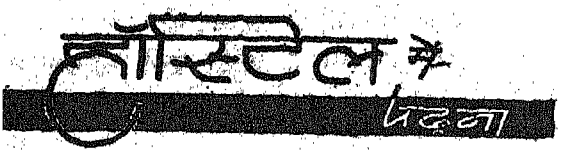

मैंने कालिज में तालीम तो जरूर पाई और रफ्ता-रफ्ता बी० ए० भी पास कर लिया, लेकिन इस आधी सदी के दौरान में, जो कालिज में गुजारनी पड़ी, हॉस्टिल में दाखिल होने की इजाजत हमें सिर्फ एक ही बार मिली, खुदा की यह मेहरबानी हम पर कब और किस तरह हुई, यह सवाल एक दास्तान का मोहताज है।

जब हमने इन्ट्रेन्स पास किया तो स्थानीय स्कूल के हैडमास्टर साहब खास तौर पर बधाई देने के लिए आये। निकट-सम्बन्धियों ने दावतें दीं। मोहल्ले वालों में मिठाइयाँ बाँटी गईं और हमारे घर वालों पर अचानक यह बात प्रकट हुई कि वह लड़का जिसे आज तक अपनी अदूर-दर्शिता की वजह से एक बेकार और नालायक व्यक्ति समझते रहे थे, वास्तव में असीम योग्यता का मालिक है। जिसकी परवरिश पर आने वाली बे शुमार नसलों की भलाई का निर्भर है। अतः हमारी आइन्दा जिन्दगी के लिए तरह-तरह की तजवीजों पर गौर किया जाने लगा।

थर्ड डिवीज़न में पास होने की वजह से यूनिवर्सिटी ने हमको वजीफा देना मुनासिब न समझा। हमारे खानदान ने आजतक किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया, इसलिए वजीफे का न मिलना भी खासकर उन रिश्तेदारों के लिए जो रिश्ते के लिहाज

से खान्दान के पास में बसते थे, गर्व का कारण बन गया और "मरकजी रिश्तेदारों" ने तो उसको अपनी इज़्ज़त और हैसियत का दर्जा समझ कर परीक्षकों की सराफ़त को बहुत ही सराहा। बहर-हाल हमारे खानदान में फ़ाल्तू रुपये की कमी न थी, इसलिए बिना किसी संकोच के यह फ़ैसला कर लिया गया कि न सिर्फ हमारी बल्कि मुल्क और क़ौम और शायद मनुष्य मात्र की भलाई के लिये यह ज़रूरी है कि ऐसे होनहार लड़के की तालीम जारी रखी जाय।

इस बारे में हमसे भी मशवरा लिया गया। उम्र-भर में इससे पहले हमारे किसी मामले में हमसे राय न ली गई थी, लेकिन अब तो हालात बहुत भिन्न थे, अब तो एक ग़ैर-जानिब-दार और ईमानदार मुन्सिफ यानी यूनीवर्सिटी हमारे आला दिमाग़ की तसदीक़ कर चुकी थी। अब भला हमें क्योंकर उपेक्षित किया जा सकता था? हमारा मशवरा यह था कि हमें फ़ौरन बिलायत भेज दिया जाय। हमने विभिन्न लीडरों की तक़रीरों के प्रमाण से यह साबित किया कि हिन्दुस्तान में तालीम का तरीक़ा बहुत खराब है। अख़बारों में से विज्ञापन दिखा-दिखा कर यह बताया कि बिलायत में कालिज की तामील के साथ-साथ फ़ुर्सत के वक़्त में बहुत थोड़ी-थोड़ी फ़ीस देकर, जरनलिज्म, फ़ोटो ग्राफ़ी, दन्दान साज़ी, ऐनक-साज़ी और एजेण्टों का काम आदि बेशुमार लाभकारी और कम खर्च-वाला-नशीं पेशे सीखे जा सकते हैं और थोड़े दिनों के अन्दर इन्सान हर-फ़न-मौला बन सकता है।

लेकिन हमारी तजवीज़ को फ़ौरन रद्द कर दिया गया क्योंकि विलायत भेजने के लिए हमारे शहर में कोई अनुकरण मौजूद न था। हमारे आस-पास से किसी का लड़का अभी तक

विलायत न गया था। इस लिए हमारे शहर की जनता विलायत के हालात से बिल्कुल अनभिज्ञ थी।

इसके बाद फिर हमसे राय न ली गई और हमारे वालिद, हैडमास्टर साहब और तहसीलदार साहब, इन तीनों ने मिल कर यह फैसला किया कि हमें लाहौर भेज दिया जाय। जब हमने यह ख़बर सुनी तो शुरू-शुरू में अत्यन्त निराशा हुई। लेकिन जब इधर उधर के लोगों से लाहौर के हालात सुने तो मालूम हुआ कि लन्दन और लाहौर में कोई फ़र्क़ नहीं। कुछ जानकार दोस्तों ने सिनेमा के हालात पर रोशनी डाली। कुछ ने थियेटरों के उद्देश्य को सामने रखा। किसी ने ठंडी सड़क आदि के सैर सपाटे की व्याख्या करके समझाई। किसी ने शाहदरे और शालीमार के रोमांसिक वातावरण का नक़्शा खींचा अतः जब लाहौर का भूगोल पूरी तरह हमको याद हो गया, तो साबित यह हुआ कि आब-हवा के लिहाज़ से अच्छा मुक़ाम है और आला दर्जे की तालीम हासिल करने के लिए निहायत उपयुक्त। इस पर हमने अपनी जिन्दगी का प्रोग्राम बनाना शुरू कर दिया, जिसमें लिखने पढ़ने की जगह तो ज़रूर दी गई लेकिन एक मुनासिब हद तक। जिससे कि तबियत पर कोई नाजायज़ बोझ न पड़े और फ़ितरत अपना काम सफ़ाई और सहूलियत के साथ कर सके।

लेकिन तहसीलदार साहब और हैड मास्टर साहब की नेक नीयती यहीं तक सीमित न रही। अगर वे सिर्फ एक साधारण सा मशवरा दे देते कि लड़के को लाहौर भेज दिया जाय तो बहुत अच्छा था, लेकिन उन्होंने तो व्याख्या में दख़ल देना शुरू कर दिया और हास्टल की जिन्दगी और घर की जिन्दगी का मुक़ाबिला करके हमारे वालिद पर यह साबित कर दिया कि

घर पवित्रता और शराफ़त का एक काबा और हास्टल पापों और बुराइयों का एक दोज़ख़ है। एक तो थे वह बहुत बोलने वाले, इस पर उन्होंने बेशुमार ग़लत-बयानी से काम लिया। अतः घर वालों को यक़ीन सा हो गया कि कालिज का हास्टल नीचे दर्जे के लोगों की एक बस्ती है और जो विद्यार्थी बाहर के शहरों से लाहौर जाते हैं, अगर उनकी पूरी तरह निगरानी न करी जाय तो वह प्रायः या तो शराब के नशे में चूर सड़क के किनारे किसी नाली में गिरे हुए पाये जाते हैं, या किसी जुए खाने में हज़ारों रुपये हार कर आत्म हत्या कर लेते हैं, या फिर फर्स्ट इअर का इम्तहान पास करने से पहले दस बारह शादियाँ कर बैठते हैं।

अतः घर वालों को यह सोचने की आदत पड़ गई कि लड़के को कालिज में तो दाख़िल किया जाय लेकिन हास्टल में न रखा जाय। कालिज ज़रूर मगर हास्टल हर्गिज़ नहीं। कालिज लाभ दायक मगर हास्टल हानिकारक। वह बहुत ठीक मगर यह ना-मुमकिन। जब उन्होंने अपनी ज़िन्दगी का उद्देश्य ही यह बना लिया कि कोई ऐसी तरकीब सोची जाय, जिससे लड़का हास्टल की मार से सुरक्षित रहे तो किसी तरकीब का सूझ जाना क्या मुश्किल था। ज़रूरत ईजाद की माँ है। अतः बहुत ग़ौर करने के बाद लाहौर में हमारे एक मामा तलाश किये गये और उनको हमारा सरपरस्त बना दिया गया। मेरे दिल में उनकी इज़्ज़त पैदा करने के लिए लम्बे चौड़े ख़ानदानी नक़्शे दिखाकर मुझे यह यक़ीन दिलाया गया कि सचमुच वह मेरे मामा हैं। मुझे बताया गया कि जब मैं एक दूध-पीता बच्चा था तो वह मुझसे बेहद मुहब्बत किया करते थे। अतः यह फ़ैसला हुआ कि हम पढ़ें कालिज में और रहें मामा के घर।

इससे पढ़ने का जो एक जोश-सा हमारे दिल में उठ रहा

था, वह कुछ बैठ-सा गया। हमने सोचा, यह मामा लोग अपनी सरपरस्ती के घमण्ड में हमारे घरवालों से भी ज्यादा देख-भाल बरतेंगे। जिसका नतीजा यह होगा कि हमारी दिमाग़ी और आत्मिक शक्ति को फलने-फूलने का मौक़ा न मिलेगा और तालीम का असली मक़सद नष्ट हो जायगा, और हुआ भी वही, जिसका हमें डर था। हम दिन-पर-दिन मुरझाते चले गये और हमारे दिमाग़ पर फफूंदी-सी जमने लगी। सिनेमा जाने की इजाज़त कभी-कभार मिलजाती थी, लेकिन इस शर्त्त पर कि बच्चों को भी साथ लेता जाऊँ। इस सोहबत में मैं भला सिनेमा से क्या फ़ायदा उठा सकता था? थियेटर के मामले में हमारी जानकारी इन्दर-सभा से आगे बढ़ने न पाई। तैरना हमें न आया, क्योंकि हमारे मामा का एक मशहूर क़ौल है कि डूबता वही है जो तैराक हो। जिसे तैरना न आता हो वह पानी में घुसता ही नहीं। घर पर आने-जाने वाले दोस्तों का चुनाव मामा के हाथ में था। कोट कितना लम्बा पहना जाय और बाल कितने लम्बे रखे जायं, इनके बारे में बहुत कड़ी हिदायतें थीं। हफ्ते में दो बार घर ख़त लिखना जरूरी था। सिगरेट ग़ुसल ख़ाने में छुप कर पीते थे। गाने-बजाने की सख्त मनाही थी।

यह सिपाहियाना जिन्दगी हमें पसन्द न आई। यों तो दोस्तों से मुलाक़ात भी हो जाती थी। सैर को भी चले जाते थे। हँस-बोल भी लेते थे, लेकिन वह जो जिन्दगी में एक आज़ादी, एक खुलापन एक मुस्कान होनी चाहिए वह हमें नसीब न हुई। आहिस्ता आहिस्ता हमने अपनी परिस्थिति पर ग़ौर करना शुरू किया, कि मामा जान किस वक़्त घर में होते हैं, किस वक़्त बाहर जाते हैं। किस कमरे से किस कमरे तक गाने की

आवाज़ नहीं पहुँच सकती। किस दरवाजे से कमरे के किस कौने में झाँकना ना-मुमकिन है। घर का कौन-सा दरवाज़ा रात के वक़्त बाहर से खोला जा सकता है। कौन-सा नौकर मुआफ़िक़ है, कौनसा नमक हलाल है। जब तजुर्बे और अध्ययन से इन बातों का अच्छी तरह अन्दाज़ा हो गया तो हमने इस ज़िन्दगी में भी फलने-फूलने के लिए कुछ गुन्जाइशें पैदा करलीं। लेकिन फिर भी हम रोज देखते थे कि हास्टल में रहने वाले विद्यार्थी किस तरह अपने पाँव पर खड़े होकर ज़िन्दगी के राज-मार्ग पर चल रहे हैं। हम उनकी ज़िन्दगी पर रश्क करने लगे। अपनी ज़िन्दगी को सुधारने की ख्वाहिश हमारे दिल में दिन-पर दिन बढ़ती गई। हमने दिल से कहा—माँ-बापों की ना-फ़रमानी किसी मज़हब में जायज़ नहीं; लेकिन उनकी ख़िदमत में दरख्वास्त करना, उनके सामने अपनी तुच्छ राय को प्रकट करना, उनको असली हालात से परिचित करना मेरा फ़र्ज है और दुनिया की कोई ताक़त मुझे अपने फ़र्ज को पूरा करने से नहीं रोक सकती।

अतः जब गर्मियों की छुट्टियों में मैं वतन को वापस गया तो कुछ संक्षिप्त मगर प्रभावशाली तक़रीरें अपने दिमाग़ में तैयार रखीं। 'घर वालों को हास्टल पर सबसे बड़ा ऐतराज़ यह था कि वहाँ की आज़ादी नौजवानों के लिए हानिकारक होती है। इस ग़लत-फ़हमी को दूर करने के लिए हज़ारों घटनाएँ ऐसी इकट्ठी कीं, जिनसे हास्टल के क़ानूनों की सख्ती इन पर अच्छी तरह ज़ाहिर हो जाय। सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब की सख्तियों की कुछ मिसालें दर्द भरी भाषा में सुनाईं। आंखें बन्द करके एक आह भरी और बिचारे अशफ़ाक़ की घटना बयान की, कि एक दिन शाम के वक़्त बिचारा हास्टिल को वापस आ रहा था। चलते-चलते पाँव में मोच आ गई। दो मिनट देर से पहुँचा,

सिर्फ़ दो मिनट। बस साहब, इस पर सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब ने फ़ौरन तार देकर उसके वालिद को बुलवाया। पुलिस से तहक़ीक़ात करने को कहा। और महीने भर के लिए उसका जेब खर्च बन्द करवा दिया। तोबा है इलाही।

लेकिन यह घटना सुनकर घर के लोग सुपरिन्टेण्डेण्ट साहब के मुख़ालिफ़ हो गये। हास्टल की खूबी उन पर प्रकट न हुई। फिर एक दिन मौक़ा पाकर बिचारे महमूद की घटना बयान करी कि एक बार बद क़िस्मती से बिचारा सिनेमा देखने चला गया। क़सूर उससे यह हुआ कि एक रुपया वाले दर्जे में जाने की बजाय वह दो रुपया वाले दर्जे में चला गया। बस, इतनी-सी फिजूल खर्ची पर उसे उम्र भर को सिनेमा जाने की मनाही हो गई है।

लेकिन इससे भी घर वाले प्रभावित न हुए। उनके रवैये से मुझे फ़ौरन ध्यान हुआ कि एक रुपये और दो रुपये की बजाय आठ आने और एक रुपया कहना चाहिए था।

इन्हीं नाकाम कोशिशों में छुट्टियाँ गुज़र गईं और हमने फिर मामा की चौखट पर आकर माथा टेका।

अगली गर्मियों की छुट्टियों में जब हम फिर गये तो हमने एक नया ढंग अख़्तियार किया। दो साल तालीम पाने के बाद हमारे ख़यालात में पुख़्तगी-सी आ गई थी। पिछले साल हास्टल की हिमायत में जो दलीलें हमने पेश की थीं, वह अब हमें निहायत बोदी मालूम होने लगी थीं। अब की बार हमने इस विषय पर एक लेक्चर दिया कि जो शख़्स हास्टल की जिन्दगी से वञ्चित हो, उसका व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। हास्टल से बाहर व्यक्तित्व पनपने नहीं पाता। कुछ दिन तो हम

इस पर तार्किक ढंग से बात-चीत करते रहे और भावों के दृष्टिकोण से इस पर बहुत कुछ रोशनी डाली। लेकिन हमें महसूस हुआ कि बग़ैर मिसालों के काम न चलेगा और जब मिसालें देने की नौबत आई तो ज़रा दिक़्क़त महसूस हुई। कालिज के जिन विद्यार्थियों के बारे में मेरा विश्वास था कि वे ज़बरदस्त व्यक्तित्व के मालिक हैं, उनकी ज़िन्दगी कुछ ऐसी न थी कि घरवालों के सामने नमूने के तौर पर पेश की जा सके। हर वह शख़्स, जिसे कालिज में तालीम हासिल करने का मौक़ा मिला है, जानता है कि घर वालों को सन्तुष्ट करने के लिए हालात को एक नये और अछूते ढंग से बयान करने की ज़रूरत पेश आती है। लेकिन इस ढंग का मौक़े पर सूझ जाना औसान और क़िस्मत की बात है। कुछ रोशन-ख़याल बेटे घर वालों को अपनी आश्चर्य-जनक ख़ूबियों का क़ायल नहीं कर सकते और कई नालायक़-से-नालायक़ विद्यार्थी घर वालों को इस तरह संतुष्ट कर देते हैं कि उनके नाम मनीआर्डर पर मनीआर्डर चला आता है।

जब हम डेढ़ महीने तक व्यक्तित्व और हास्टल की ज़िन्दगी पर उसका निर्भर, इन दो मज़मूनों पर अपने ख़यालों को प्रकट करते रहे तो एक दिन वालिद ने पूछा—

"तुम्हारा व्यक्तित्व से आख़िर मतलब क्या है?"

मैं तो ख़ुदा से यही चाहता था कि वे मुझे बातचीत का मौक़ा दें। मैंने कहा—"देखिये न, मानों एक विद्यार्थी है। वह कालिज में पढ़ता है। अब एक तो उसका दिमाग़ है। एक उसका जिस्म है। जिस्म की तन्दुरुस्ती भी ज़रूरी है और दिमाग़ की सेहत तो ज़रूरी है ही। लेकिन इनके अलावा एक और बात भी होती है, जिससे आदमी गोया पहचाना जाता है। मैं

इसको व्यक्तित्व कहता हूँ। इसका सम्बन्ध न जिस्म से होता है, न दिमाग़ से। हो सकता है कि एक आदमी की जिस्मानी हालत बिल्कुल कमज़ोर हो और उसका दिमाग़ भी बिल्कुल बेकार हो; लेकिन फिर भी उसका व्यक्तित्व न खैर, दिमाग़ तो बेकार न होना चाहिए, वरना इन्सान पागल हो जाता है—लेकिन फिर भी अगर होगी, तो भी—गोया व्यक्तित्व एक ऐसी चीज़ है—ठहरिये, मैं अभी एक मिनट में आपको बताता हूँ।"

एक मिनट की बजाय वालिद ने मुझे आध घण्टे का समय दिया, जिसके दौरान में वे ख़ामोशी के साथ मेरे जवाब का इन्तज़ार करते रहे। इसके बाद मैं वहाँ से उठकर चला आया।

तीन-चार दिन के बाद मुझे अपनी ग़लती का अनुभव हुआ। मुझे व्यक्तित्व नहीं, आदत कहना चाहिए। व्यक्तित्व एक बे-रंग-सा शब्द है। आदत शब्द से नेकी टपकती है। अतः मैंने आदत को अपना तकिया कलाम बना लिया। लेकिन यह भी लाभकारी साबित न हुआ। वालिद कहने लगे—"क्या आदत से तुम्हारा मतलब चाल-चलन है या कुछ और ?"

मैंने कहा—"चाल-चलन ही कह लीजिये।"

"तो गोया दिमाग़ी और जिस्मानी सेहत के अलावा चाल-चलन भी अच्छा होना चाहिए।"

मैंने कहा—"बस यही तो मेरा मतलब है।"

"और यह चाल चलन हास्टल में रहने से बहुत अच्छा हो जाता है ?"

मैंने कुछ कमज़ोर आवाज़ से कहा—"जी हां"

"यानी हास्टल में रहने वाले विद्यार्थी नमाज़-रोज़े के

ज्यादा पावन्द होते हैं। मुल्क की ज्यादा खिदमत करते हैं। सच ज्यादा बोलते हैं। नेक ज्यादा होते हैं।"

मैंने कहा—"जी हाँ।"

कहने लगे—"वह क्यों ?"

इस सवाल का जवाब एक बार प्रिंसिपल साहब ने एक जल्से में निहायत व्याख्या के साथ बयान किया था। ए काश! मैंने उस वक़्त ध्यान से सुना होता।

इसके बाद फिर साल भर मैं मामा के घर में "ज़िन्दगी है तो खिजां के भी गुज़र जायंगे दिन" गाता रहा।

हर साल मेरी दरख्वास्त का यही नतीजा होता रहा। लेकिन मैंने हिम्मत न हारी। हर साल निराशा का मुँह देखना पड़ता। लेकिन अगले साल गर्मी की छुट्टियों में पहले से भी ज्यादा तेजी के साथ अपनी कोशिश जारी रखता। हर बार नई-नई दलीलें पेश करता। नई-नई मिसालें काम में लाता। जब व्यक्तित्व और आदत वाले मजमून से काम न चला तो अगले साल यह दलील पेश की कि हास्टल में रहने से प्रोफेसरों के साथ मिलने-जुलने के मौक़े ज्यादा मिलते रहते हैं और इन "कालिज से बाहर" मुलाकातों से इन्सान पारस हो जाता है। इससे अगले साल यह मतलब यों अदा किया कि हास्टल की आब-हवा बड़ी अच्छी होती है। सफ़ाई का खास तौर पर ख्याल रखा जाता है। मक्खियाँ और मच्छर मारने के लिए कई-कई अफ़सर नियुक्त हैं। इससे अगले साल यों कहा कि जब बड़े-बड़े हाकिम कालिज का मुआइना करने आते हैं। तो हास्टल में रहने वाले विद्यार्थियों से बारी-बारी हाथ मिलाते हैं। इससे रसूख बढ़ता है। लेकिन ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रता गया, मेरी

तक़रीरों में जोश बढ़ता गया और वज़न कम होता गया। शुरू-शुरू में हास्टल की समस्या पर वालिद मुझसे बाक़ायदा बहस किया करते थे। कुछ अर्से के बाद उन्होंने एक 'इन्कार' का रवैया अख़्तियार कर लिया। फिर एक-आध साल मुझे हंसकर टालते रहे और आख़िर में यह नौबत आन पहुँची कि वे हास्टल का नाम सुनते ही ताने के तौर पर हँस कर मुझे तशरीफ़ ले जाने का हुक्म दे दिया करते थे।

उनके इस सलूक़ को आप यह अन्दाज़ा न लगायें कि उनकी महरबानी कुछ कम हो गई थी। हरगिज़ नहीं। हक़ीक़त सिर्फ़ इतनी है कि कुछ अनुचित घटनाओं के कारण घर में मेरी इज़्ज़त कुछ कम हो गई थी।

बात यह हुई कि मैंने जब पहली बार बी० ए० का इम्तिहान दिया तो फ़ेल हो गया। अगले साल एक बार यही घटना पेश आई। इसके बाद भी जब तीन-चार बार यही क़िस्सा हुआ तो घर वालों ने मेरी उमंगों में दिलचस्पी लेनी छोड़ दी। बी. ए. में लगातार फ़ेल होने के कारण मेरी बात-चीत में एक जलन तो ज़रूर आगई थी, लेकिन कलाम में वह पहले जैसी शौकत और मेरी राय की वह पहले जैसी इज़्ज़त अब न रही थी।

मैं अपने अध्ययन-काल के इस दौर का हाल खोल कर बयान करना चाहता हूँ। क्योंकि इससे एक तो आप मेरी ज़िन्दगी की ऊँचाई-नीचाई से अच्छी तरह वाक़िफ़ हो जायेंगे। और इसके अलावा इससे यूनिवर्सिटी की कुछ बेक़ाइदगियों का भेद भी आप पर प्रकट हो जायगा'

मैं पहले साल बी० ए० में क्यों फेल हुआ, इसका समझना बहुत आसान है। बात यह हुई कि जब हमने एफ० ए० का इम्तिहान दिया तो क्योंकि हमने काम खूब दिल लगाकर किया

था, इसलिये हम इसमें "कुछ" पास ही हो गये। बहर-हाल फेल न हुए। यूनिवर्सिटी ने यों तो हमारा ज़िक्र बड़े अच्छे शब्दों में किया। लेकिन रियाज़ी के बारे में यह फ़रमाया गया कि सिर्फ़ इस मज़मून का इम्तिहान एक-आध बार फिर दे डालो (ऐसे इम्तिहान को प्रायः कम्पार्टमेन्ट का इम्तिहान कहा जाता है। शायद इसलिए कि अपने साथी मुसाफ़िरों की रज़ामन्दी के बग़ैर अगर कोई इसमें सफ़र कर रहे हों, नकल करने की सख़्त मनाही है।)

अब जब हम बी० ए० में दाख़िल होने लगे तो हमने यह सोचा कि बी० ए० में रियाज़ी लेंगे। इस तरह कम्पार्टमेन्ट के इम्तिहान के लिए फ़ालतू काम न करना पड़ेगा। लेकिन हमें सब लोगों ने यही मशविरा दिया कि तुम रियाज़ी मत लो। जब हमने इसकी वजह पूछी तो किसी ने हमें कोई माकूल जवाब न दिया। लेकिन जब प्रिंसिपल साहब ने भी यही मशवरा दिया तो हम रज़ामन्द हो गये। अतः बी० ए० में हमारे मज़मून अँग्रेज़ी, तारीख़ और फ़ारसी क़रार पाये। साथ-साथ हम रियाज़ी के इम्तिहान की भी तैयारी करने लगे। यानी हम तीन की बजाय चार मज़मून पढ़ रहे थे। इस तरह से जो सूरत पैदा हुई; उसका अन्दाज़ा वही लोग लगा सकते हैं, जिन्हें यूनिवर्सिटी के इम्तिहानों का काफ़ी तजुर्बा है। हमारी अध्ययन शक्ति कई जगह बँट गई और विचारों में परेशानी पैदा हुई। अगर मुझे चार की बजाय सिर्फ़ तीन मज़मून पढ़ने होते, तो जो वक़्त चौथे मज़मून को दे रहा था, वह बाँट कर इन तीन मज़मूनों को देता। आप सच मानिये, इससे बड़ा फ़र्क़ पड़ता। और मान लिया, अगर मैं वह वक़्त तीनों को बाँट कर न देता, बल्कि सब-का-सब इन तीनों में से किसी एक मज़मून के लिए ख़र्च

कर देता तो कम-से-कम उस मज़मून में तो ज़रूर पास हो जाता लेकिन मौजूदा हालत में तो वही होना ज़रूरी था, जो हुआ। यानी यह कि मैं किसी मज़मून पर भी पूरा ध्यान न दे सका। कम्पार्टमेंन्ट के इम्तिहान में तो पास हो गया, लेकिन बी० ए० में एक तो अँग्रेजी में फ़ेल हुआ। वह तो होना ही था, क्योंकि अँग्रेजी हमारी मातृ-भाषा नहीं। इसके अलावा तारीख़ और फ़ारसी में भी फ़ेल हो गया। अब आप ही सोचिये न, कि जो वक्त मुझे कम्पार्टमेन्ट के इम्तिहान में ख़र्च करना पड़ा वह अगर मैं वहाँ ख़र्च न करता, बल्कि इसकी बजाय—मगर ख़ैर, यह बात मैं पहले अर्ज कर चुका हूं।

फ़ारसी में किसी ऐसे शख़्स का फ़ेल होना जो एक शिक्षित परिवार से सम्बन्ध रखता हो, लोगों के लिए निहायत आश्चर्य का कारण हुआ। और सच पूछिये तो हमें भी इस पर बहुत शर्मिन्दगी हुई। लेकिन ख़ैर, अगले साल यह शर्मिन्दगी धुल गई। और हम फ़ारसी में पास हो गये। इससे अगले साल तारीख़ में पास हो गये और इस से अगले साल अंग्रेजी में।

अब क़ायदे के लिहाज़ से हमें बी० ए० का सर्टीफ़िकेट मिल जाना चाहिए था। लेकिन यूनिवर्सिटी की इस बच्चों जैसी ज़िद का क्या इलाज कि तीनों मज़मूनों में एक साथ पास होना ज़रूरी हैं। कुछ तबियतें ऐसी हैं कि जब तक एकाग्रता न हो, अध्ययन नहीं कर सकतीं। क्या ज़रूरी है कि इनके दिमाग़ को ज़बर्दस्ती एक खिचड़ी-सा बना दिया जाय। हमने हर साल सिर्फ़ एक मज़मून पर अपना तमाम ध्यान दिया और इसमें वह कामयाबी हासिल की कि शायद ही कोई करे। बाक़ी दो मज़मून हमने नहीं देखे। लेकिन हमने यह तो साबित कर दिया कि जिस मज़मून में चाहें पास हो सकते हैं।

अब तक तो दो-दो मज़मूनों में फ़ेल होते रहे थे; लेकिन इसके बाद हमने फैसला कर लिया कि जहाँ तक हो सका अपने अध्ययन को विस्तृत करेंगे। यूनीवर्सिटी के बेहूदा और निरर्थक क़ानूनों को हम अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ नहीं बना सकते तो अपनी तबीयत पर ही कुछ ज़ोर डालें। लेकिन जितना ग़ौर किया, इसी नतीजे पर पहुँचे कि तीनों मज़मूनों में एक साथ पास होना फ़िल्हाल मुश्किल है। पहले दो में पास होने की कोशिश करनी चाहिए। अतः हम पहले साल अँग्रेज़ी और फ़ारसी में पास हो गये। और दूसरे साल फ़ारसी और तारीख़ में।

जिन-जिन मज़मूनों में हम जैसे-जैसे फ़ेल हुए, वह इस नक़शे से ज़ाहिर है—

(१) अँग्रेज़ी, तारीख़, फ़ारसी।
(२) अँग्रेज़ी, तारीख़।
(३) अँग्रेज़ी, फ़ारसी।
(४) तारीख़, फ़ारसी।

गोया जिन जिन तरीक़ों से हम दो-दो मज़मूनों में फ़ेल हो सकते थे, वे हमने सब पूरे कर दिये। इसके बाद हमारे लिये दो मज़मूनों में फ़ेल होना असम्भव हो गया। और एक-एक मज़मून में फ़ेल होने की बारी आई। अतः अब हमने निम्न नक़शे के मुताबिक़ फ़ेल होना शूरू कर दिया :—

(५) तारीख़ में फ़ेल।
(६) अँग्रेज़ी में फ़ेल।

इतनी बार इम्तिहान दे चुकने के बाद जब हमने अपने नतीजों को यों अपने सामने रखकर ग़ौर किया तो साबित

हुआ कि शाम की रात खत्म होने वाली है। हमने देखा कि अब हमारे फ़ेल होने का सिर्फ़ एक ही तरीक़ा बाक़ी रह गया है। वह यह कि फ़ारसी में फ़ेल हो जायं। लेकिन इसके बाद तो पास होना ज़रूरी है। यद्यपि यह घटना दुःखदाई अवश्य होगी, लेकिन इसमें यह भलाई तो ज़रूर छिपी है कि इससे हमें एक तरह का टीका लग जायगा। बस यही क़सर बाक़ी रह गई है। इस साल फ़ारसी में फ़ेल होंगे और फिर अगले साल बिल्कुल पास हो जायंगे। अतः सातवीं बार इम्तिहान देने के बाद हम बेचैनी से फ़ेल होने का इन्तज़ार करने लगे। यह इन्तज़ार असल में फ़ेल होने का इन्तज़ार न था, बल्कि इस बात का इन्तज़ार था कि इस फ़ेल होने के बाद हम अगले साल हमेशा के लिए बी० ए० हो जायंगे।

हर साल इम्तिहान के बाद जब घर पर आता तो घर वालों को नतीजे के लिए पहले ही से तैयार कर देता। आहिस्ता-आहिस्ता नहीं, बल्कि एकदम और फ़ौरन। आहिस्ता-आहिस्ता तैयार करने से ख़्वाह-मख़्वाह वक़्त जाया होता है और परेशानी मुफ़्त में बढ़ती है। हमारा क़ायदा यह था कि जाते ही कह दिया करते थे कि इस साल तो कम-से-कम पास नहीं हो सकते। घर वालों को प्रायः यक़ीन न आता। ऐसे मौक़ों पर तबीयत को बड़ी उलझन होती है। मुझे अच्छी तरह मालूम है कि मैं पर्चों में क्या लिखकर आया हूँ। अच्छी तरह जानता हूं कि प्रायः परीक्षक लोग नशे की हालत में पर्चे न देखें तो मेरा पास होना बिल्कुल असम्भव है। चाहता हूँ कि मेरे तमाम ख़ैर-ख़्वाहों को भी इस बात का यक़ीन हो जाय, जिससे वक़्त पर उन्हें रंज न हो। लेकिन ख़ैर-ख़्वाह हैं कि मेरी तमाम बातों को मख़ौल समझते हैं। आख़िरी सालों में वालिद को यक़ीन

आ जाया करता था, क्योंकि तजुर्बे से उन पर साबित हो चुका था कि मेरा अन्दाज़ा ग़लत नहीं होता। लेकिन इधर-उधर के लोग "अजी नहीं साहब" "अजी क्या कह रहे हो" "अजी यह भी कोई बात है" ऐसे वाक्यों से नाक में दम कर देते। बहर-हाल अब की बार फिर घर पहुँचते ही हमने क़ायदे के मुताबिक़ अपने फ़ेल होने की भविष्यवाणी कर दी। दिल को यह तसल्ली थी कि बस यह आख़िरी बार है। अगले साल ऐसी भविष्य-वाणी करने की कोई ज़रूरत न होगी।

साथ ही ख़याल आया कि वह हास्टल का क़िस्सा फिर शुरू करना चाहिए। अब तो कालिज में सिर्फ़ एक ही साल बाक़ी रह गया है। अब भी हास्टल में रहना नसीब न हुआ तो उम्र भर गोया आज़ादी से वंचित रहे। घर से निकले तो मामा के दड़बे में, और जब मामा के दड़बे से निकले तो शायद अपना एक दड़बा बनाना पड़ेगा। आज़ादी का एक साल, सिर्फ़ एक साल, और यह आख़िरी मौक़ा है।

आख़िरी दरख़्वास्त करने से पहले मैंने तमाम ज़रूरी मसाला बड़ी होशियारी से जमा किया। जिन प्रोफ़ेसरों से मुझे अब हम-उम्री का फ़ख़्र हासिल था उनके सामने निःसंकोच अपनी आशायें प्रकट की और उनसे वालिद को ख़त लिखवाये कि अगले साल लड़के को ज़रूर आप हास्टल में भेज दें। कुछ कामयाब विद्यार्थियों के घर वालों से भी इसी तरह की अर्ज़ियाँ भिजवाईं। ख़ुद गिन कर साबित किया कि यूनीवर्सिटी से जितने लड़के पास हुए हैं, उनमें से प्रायः हास्टल में रहते हैं और यूनीवर्सिटी का कोई वज़ीफ़ा या तमग़ा या इनाम तो कभी हास्टल से बाहर गया ही नहीं। मैं हैरान हूं कि यह दलील इससे पहले कभी क्यों न सूझी थी; क्योंकि यह बहुत ही कारगर

साबित हुई। वालिद का इन्कार नर्म होते-होते सोच-विचार में बदल गया। लेकिन फिर भी उनके दिल से शक न गया। कहने लगे—"मेरी समझ में नहीं आता कि जिस लड़के को पढ़ने का शौक़ हो वह हास्टल की बजाय घर पर क्यों नहीं पढ़ सकता।"

मैंने जवाब दिया कि हास्टल में एक शिक्षित वातावरण होता है। जो अरस्तू और अफ़लातून के घर के सिवा और किसी के घर में नहीं मिल सकता। हास्टल में जिसे देखो, इल्म के समन्दर में गोते लगाता नज़र आता है। हर हास्टल में दो-दो सौ तीन-तीन सौ लड़के रहते हुए भी वह ख़ामोशी होती है कि क़ब्रिस्तान मालूम होता है। वजह यह कि हर एक अपने अपने काम में लगा रहता है। शाम के वक़्त हास्टल के चौक में जगह-जगह विद्यार्थी इल्मी-बहस में लगे नज़र आते हैं। सुबह-सुबह हर एक विद्यार्थी किताब हाथ में लिये हास्टल के बागीचे में टहलता नज़र आता है। खाने के कमरे में, कामन रूम में, ग़ुसलख़ानों में, बरामदों में, हर जगह लोग फ़िल्स फ़े और रियाज़ी तथा तरीख़ की बातें करते हैं। जिनको अँग्रेजी का शौक़ है वे दिन रात आपस में शेक्सपियर की तरह बात चीत करने का अभ्यास करते हैं। रियाज़ी के विद्यार्थी अपने हर एक ख़याल को अल्जब्रे में अदा करने की आदत डाल लेते हैं। फ़ारसी के विद्यार्थी रुबाइयों में विचार-विनिमय करते हैं। तारीख़ के दिलदादा····· ।

वालिद ने इजाज़त दे दी।

अब हमें यह इन्तज़ार कि कब फ़ेल हों और कब अगले साल के लिये अर्ज़ी भेजें। इस दौरान में हमने उन तमाम दोस्तों से पत्र-व्यवहार किया जिनके बारे में यक़ीन था कि अगले साल फिर उनका साथ नसीब होगा। और उन्हें यह ख़ुशख़बरी

सुनाई कि आयन्दा साल हमेशा के लिए कालिज की तारीख में यादगार रहेगा। क्योंकि हम तालीमी जिन्दगी का एक विस्तृत अनुभव अपने साथ लिए हास्टल में आ रहे हैं। जिससे हम विद्यार्थियों की नई पौद को मुफ़्त में फ़ायदा पहुंचायंगे। अपने दिमाग़ में हमने हास्टल में अपनी हैसियत एक महर बान माँ की-सी सोच ली, जिसके आस-पास अनुभव-हीन विद्यार्थी मुर्गी के बच्चों की तरह भागते फिरेंगे। सुपरिंटन्डेण्ट साहब को, जो किसी ज़माने में हमारे साथ पढ़ चुके थे, लिख भेजा कि जब हम हास्टल में आयेंगे तो फ़लाँ-फ़लाँ रियायतों की उम्मीद आप से रखेंगे और फ़लाँ-फ़लाँ क़ानूनों से अपने-आप को बरी समझेंगे। सूचना के तौर पर अर्ज़ है।

और यह सब कुछ कर चुकने के बाद हमारी बद-नसीबी देखिये कि जब नतीजा निकला तो हम पास हो गये।

हम पर तो जो जुल्म हुआ सो हुआ। यूनिवर्सिटी वालों की बेवकूफी देखिये कि हमें पास करके अपनी आमदनी का एक बँधाऊरिया हाथ से गँवा बैठे।

मैं एक मियाँ हूँ!

मैं एक मियाँ हूं, सेवक और हुक्म मानने वाला। अपनी बीबी रोशन-आरा को अपनी ज़िन्दगी की हर बात से परिचित रखना अपनी ज़िन्दगी का उसूल समझता हूं और हमेशा से इस पर दृढ़ रहा हूँ। ख़ुदा मेरे उसूल को अन्त तक ख़ैरियत से पूरा करे।

मेरी बीबी मेरे दोस्तों के तमाम आदतों से वाक़िफ़ है। जिसका नतीजा यह है कि मेरे दोस्त जितने मुझ को प्रिय हैं, उतने ही रोशन-आरा को बुरे लगते हैं। मेरे दोस्तों की जिन अदाओं ने मुझे लुभा रखा है, उन्हें मेरी बीबी एक शरीफ आदमी के लिए जिल्लत का कारण समझती है।

आप कहीं यह न समझलें कि ख़ुदा न करे; वे कोई ऐसे आदमी हैं जिनका ज़िक्र भले आदमियों के सामने न किया जा सके। कुछ अपने हुनर के कारण कुछ सेवक के पास उठने बैठने के कारण सबके सब ही सफ़ेद-पोश हैं। लेकिन इस बात को क्या करूँ कि उनकी दोस्ती मेरे घर के अमन में इस क़दर गड़बड़ करती है कि कुछ कह नहीं सकता।

उदाहरण के लिए मिर्ज़ा साहब को ही लीजिये। अच्छे ख़ासे भले आदमी हैं। यों जंगलात के महकमे में एक अच्छे पद

पर नियुक्त हैं, लेकिन शक्ल-सूरत ऐसी पवित्र पाई है, कि मस्जिद के इमाम मालूम होते हैं। जुआ वे नहीं खेलते, गिल्ली, डंडे का उनको शौक नहीं, जेब कतरते हुए कभी वे पकड़े नहीं गये। अलबत्ता कबूतर पाल रखे हैं। उन्हीं से जी बहलाते हैं। हमारी बीबी की यह हालत है कि मोहल्ले का कोई बदमाश जुए में कैद हो जाय तो उसकी मां के पास सहानुभूति प्रकट करने तक को चली जाती हैं। गिल्ली-डंडे में किसी की आँख फूट जाय, तो मरहम-पट्टी करती रहती हैं। कोई जेब-कतरा पकड़ा जाय तो घण्टों आँसू बहाती रहती हैं। लेकिन वे बुजुर्ग जिनको दुनिया भर की ज़बान मिर्जा साहब-मिर्जा साहब कहते हैं, हमारे घर में। "मुए कबूतर-बाज" के नाम से याद किये जाते हैं। कभी भूले से भी मैं आसमान की तरफ़ नजर उठाकर किसी चील, कव्वे, गिद्ध या शिकरे को देखने लग जाऊँ, तो रोशन-आरा को फौरन ख़याल हो जाता है कि बस अब यह भी कबूतर-बाज बनने लगा।

इसके बाद मिर्जा साहब की शान में एक क़सीदा शुरू हो जाता है। बीच में मेरी तरफ इशारा कभी लम्बी बहर में कभी छोटी बहर में।

एक दिन जब यह घटना घटी तो मैंने पक्का इरादा कर लिया कि इस मिर्जा कम्बख्त को कभी पास न फटकने दूँगा। मियाँ बीवी के पारस्परिक प्रेम के मुकाबले में दोस्तों को खुश रखना क्या चीज़ है? अतः हम गुस्से में भरे हुए मिर्जा साहब के घर गये। दरवाजा खट खटाया। कहने लगे, अन्दर आ जाओ। हमने कहा, नहीं आते। तुम बाहर आओ। खैर आखिर अन्दर गया। बदन पर तेल मलकर एक कबूतर की चोंच मुँह में लिये धूप में बैठे थे। कहने लगे, बैठ जाओ।

हमने कहा, बैठेंगे नहीं। आखिर बैठ गये मालुम होता है। हमारे त्यौर कुछ बिगड़े हुए थे। मिर्जा बोले—क्यों भई, खैर तो है? मैंने कहा—कुछ नहीं। कहने लगे—इस वक़्त कैसे आना हुआ।

अब मेरे दिल में फ़िकरे खौलने शुरू हुए। पहले इरादा किया कि एक दम ही सब कुछ कह डालो और चल दो। फिर सोचा कि मज़ाक़ समझेगा। इसलिए किसी ढंग से बात शुरू करो। लेकिन समझ में नहीं आया कि पहले क्या कहें। आख़िर हमने कहा—

"मिर्जा भाई, कबूतर बहुत महँगे होते?"

यह सुनते ही मिर्जा साहब ने चीन से लेकर अमरीका तक के तमाम कबूतरों को एक-एक करके गिनवाना शुरू किया। इसके बाद दाने की महँगाई के बारे में बातचीत करते रहे और फिर सिर्फ महँगाई पर व्याख्यान देने लगे। इस दिन तो हम यों ही चले आये। लेकिन अभी खटपट का इरादा दिल में बाक़ी था। खुदा का करना क्या हुआ कि शाम को घर में हमारी सुलह हो गई। हमने कहा, चलो अब मिर्जा के साथ दोस्त की बिगाड़ने से क्या फ़ायदा? अतः दूसरे दिन मिर्जा से भी सुलह सफाई हो गई।

लेकिन मेरी ज़िन्दगी कड़वी करने के लिए एक-न-एक दोस्त टपक ही पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि कुदरत ने मेरी तबियत में मित्रता और गुण-ग्राहकता कूट-कूट कर भरदी है। क्योंकि हमारी बीबी को हम में हर वक्त किसी-न-किसी आदतों की झलक नज़र आती रहती है। यहाँ तक कि मेरी अपनी व्यक्तिगत आदतें बिल्कुल ही नापैद हो चुकी हैं।

शादी से पहले हम कभी-कभी दस बजे उठा करते थे, वर्ना ग्यारह बजे। अब कितने बजे उठते हैं, इसका अन्दाजा वही लोग लगा सकते हैं, जिनके घर नाश्ता जबरदस्ती सुबह के सात बजे करा दिया जाता है। और अगर हम कभी अपनी कमजोरी के तक़ाजे से मुर्गों की तरह लड़के उठने में कमी करें तो फौरन कह दिया जाता है कि यह उस निखट्टू नसीम की मोहबत का नतीजा है। एक दिन सुबह-सुबह हम नहा रहे थे। सर्दी का मौसम, हाथ-पाँव काँप रहे थे। साबुन सिर पर मलते थे तो नाक में घुसता था कि इतने में हमने खुदा जाने कौनसी तरंग में आकर गुसलखाने में अलापना शुरू किया। और फिर गाने लगे कि—"तोरी छलबल है न्यारी.....इसको हमारी निहायत बदमज़ाकी समझा गया और इस बदमज़ाक़ी का असल कारण हमारे दोस्त पंडितजी को ठहराया गया।

लेकिन हाल ही में मुझ पर एक ऐसी घटना बीती है कि मैंने तमाम दोस्तों को तिलांजिल देने की क़िस्म खाली है।

तीन-चार दिन का जिक्र है कि सुबह के वक़्त रोशन आरा ने मुझसे मायके जाने की इजाजत माँगी। जबसे हमारी शादी हुई है, रोशन-आरा सिर्फ दो बार मैके गई है। और फिर उसने इस सादगी और अजिज़ी से कहा कि मैं इन्कार न कर सका। कहने लगी तो फिर मैं डेढ़ बजे की गाड़ी से चली जाऊँ ? मैंने कहा—और क्या ?

वह झट तैयारी में लग गई। और दिमाग में आज़ादी के विचारों ने चक्कर लगाने शुरू किये। यानी अब बेशक दोस्त आयें, बेशक ऊधम मचायें, मैं बेशक गाऊँ, बेशक जब चाहूँ उठूँ, बेशक थ्येटर जाऊँ, मैंने कहा—

"रोशन-आरा जल्दी करो, नहीं तो गाड़ी छूट जायगी।"

साथ स्टेशन पर गया। जब गाड़ी में सवार करा चुका तो कहने लगी—"ख़त ज़रूर लिखते रहिये।" मैंने कहा—"हर रोज़, और तुम भी!"

"खाना वक्त पर खा लिया कीजिये। और हाँ, धुली हुई जुर्राबें और रूमाल अलमारी के निचले खाने में पड़े हैं।"

इसके बाद हम दोनों ख़ामोश हो गये और एक दूसरे के चेहरे को देखते रहे। उसकी आँखों में आँसू भर आये। मेरा दिल भी बेताब होने लगा। और जब गाड़ी रवाना हुई तो मैं देर तक मूर्त्तिवत् प्लेटफार्म पर खड़ा रहा।

आख़िर-आहिस्ता आहिस्ता क़दम उठाता हुआ क़िताबों की दुकान तक आया और अख़बारों के पन्ने पलट-पलट कर तस्वीरें देखता रहा। एक अख़बार खरीदा। तह करके जेब में डाला। और आदत के मुताबिक़ घर का इरादा कर लिया।

फिर ख़याल आया कि अब घर जाना ज़रूरी नहीं रहा। अब जहाँ चाहूँ, जाऊँ। चाहूँ तो घण्टों स्टेशन पर ही टहलता रहूँ। दिल चाहता था—क़लाबाज़ियाँ खाऊँ।

कहते हैं जब अफ्रीक़ा के हब्शियों को किसी सभ्य मुल्क में कुछ दिन रखा जाता है तो वे वहां की शान-शौक़त से बहुत प्रभावित होते हैं। लेकिन जब वापस जंगलों में पहुँचते हैं तो खुशी के मारे चीखें मारते हैं। कुछ ऐसी ही हालत मेरे दिल की हो रही थी। भागता हुआ स्टेशन से आज़ादाना बाहर निकला। आज़ादी के लहजे में तांगे वाले को बुलाया और कूद कर तांगे में सवार हो गया। सिगरेट सुलगा लिया, टांगें सीट पर फैला दीं और क्लब को रवाना हो गया।

रास्ते में एक बहुत जरूरी काम याद आया। तांगा मोड़कर घर की तरफ पल्टा। बाहर ही से नौकर को आवाज दी।

"अमजद!"

"हुजूर।"

"देखो, हज्जाम को जाकर कह दो कि कल ग्यारह बजे आये।"

"बहुत अच्छा।"

"ग्यारह बजे, सुन लिया न? कहीं रोज की तरह फिर छै बजे आ धमके।"

"बहुत अच्छा हुजूर।"

"और ग्यारह बजे से पहले आये तो धक्के देकर बाहर निकाल दो।"

यहाँ से क्लब पहुँचे। आज तक कभी दिन के दो बजे क्लब न गया था। अन्दर दाखिल हुआ तो सुनसान! आदमी का नाम-निशान तक नहीं। सब कमरे देख डाले। क्लेर्ड का कमरा खाली, शतरंज का कमरा खाली, ताश का कमरा खाली। सिर्फ खाने के कमरे में एक मुलाजिम छुरियाँ तेज कर रहा था।

उससे पूछा—"क्यों बे आज कोई नहीं आया?"

कहने लगा—"हुजूर! आप जानते हैं, इस वक्त भला कौन आता है?"

बहुत निराश हुआ। बाहर निकलकर सोचने लगा कि अब क्या करूँ? और कुछ न सूझा तो वहाँ से मिर्जा साहब के घर पहुँचा। मालूम हुआ, अभी दफ्तर से वापस नहीं आये। दफ्तर पहुँचा, देखकर बहुत हैरान हुए। मैंने सब हाल बयान किया।

कहने लगे—"तुम बाहर के कमरे में ठहरो। थोड़ा-सा काम रह गया है, बस अभी भुगता कर तुम्हारे साथ चलता हूँ। शाम का प्रोग्राम क्या है?"

मैंने कहा—"थियेटर!"

कहने लगा—"बस, बहुत ठीक है। तुम बाहर बैठो, मैं अभी आया।"

बाहर के कमरे में एक छोटी-सी कुर्सी पड़ी थी। उस पर बैठ कर इन्तज़ार करने लगा और जेब से अख़बार निकाल कर पढ़ना शुरू कर दिया। शुरू से आख़िर तक सब पढ़ डाला। और अभी चार बजने में एक घंटा बाकी था। फिर से पढ़ना शुरू कर दिया। सब विज्ञापन पढ़ डाले और फिर सब विज्ञापनों को दोबारा पढ़ डाला।

आख़िर अख़बार फेंक कर बिना किसी तकल्लुफ़ या लिहाज़ के जमाइयाँ लेने लगा। जमाई पर जमाई, जमाई पर जमाई, यहाँ तक कि जबड़ों में दर्द होने लगा।

इसके बाद टांगें हिलाना शुरू किया। लेकिन इस में भी थक गया।

फिर मेज़ पर तबले की गतें बजाता रहा।

बहुत तंग आ गया तो दरवाज़ा खोल कर मिर्ज़ा से कहा—"अबे यार चलता भी है कि मुझे इन्तज़ार में ही मार डालेगा, मरदूद कहीं का। सारा दिन मेरा बरबाद कर दिया।"

वहां से उठकर मिर्ज़ा के घर गये। शाम बड़े मज़े में कटी। खाना क्लब में खाया और वहाँ से दोस्तों को साथ लिये थियेटर गये। रात के अढ़ाई बजे घर लौटे। तकिए पर सिर रखा ही था कि नींद ने बेहोश कर दिया।

सुबह आँख खुली तो कमरे में धूप लहरें मार रही थीं। घड़ी को देखा तो पौने ग्यारह बजे थे। हाथ बढ़ाकर मेज पर से एक सिगरेट उठाया और सुलगाकर तश्तरी में रख दिया और फिर ऊँघने लगा।

ग्यारह बजे अमजद कमरे में दाखिल हुआ। कहने लगा—"हुज़ूर हज्जाम आया है।"

हमने कहा—यहीं बुला लाओ। यह सुख मुद्दत के बाद नसीब हुआ कि बिस्तर में लेटे-लेटे हजामत बनवालें। इत्मीनान से उठे और नहा-धोकर बाहर जाने के लिये तैयार हुए। लेकिन तबीयत में वह खिलावट न थी, जिसकी आशा लगाये बैठे थे। चलते वक़्त अलमारी से रूमाल निकाला तो खुदा जाने क्या खयाल दिल में आया। वहीं कुर्सी पर बैठ गया और पागलों की तरह उस रुमाल को ताकता रहा। अलमारी का एक और खाना खोला तो सरदई रंग का एक रेशमी दोपट्टा नजर पड़ा। बाहर निकाला। हल्की-हल्की इत्र की खुशबू आ रही थी। बहुत देर तक उस पर हाथ फेरता रहा। दिल भर आया। घर सूना मालूम होने लगा। बहुतेरा अपने-आपको सँभाला। लेकिन आँसू टपक ही पड़े। आँसुओं का गिरना था कि बेताब हो गया और सचमुच रोने लगा। सब जोड़े बारी-बारी निकाल कर देखे; लेकिन न मालूम क्या-क्या याद आया कि और भी बेक़रार होता गया।

आखिर न रहा गया। बाहर निकला और सीधा तारघर पहुँचा। वहाँ से तार दिया कि मैं बहुत उदास हूँ, तुम फ़ौरन आ जाओ।

तार देने के बाद दिल को कुछ तसल्ली हुई। यक़ीन था कि

रोशन-आरा अब जल्दी ही आ जायगी। इससे कुछ हिम्मत बंध गई और दिल पर से जैसे एक बोझ हट गया।

दूसरे दिन मिर्ज़ा के मकान पर ताश का बाज़ार गर्म होना था। वहाँ पहुंचे तो मालूम हुआ कि मिर्ज़ा के वालिद से कुछ लोग मिलने आये हैं। इसलिये तजवीज़ यह ठहरी कि यहाँ से किसी दूसरी जगह खिसक चलो। हमारा मकान तो खाली था ही, सब यार लोग वहीं इकट्ठे हुए। अमजद से कह दिया गया कि हुक्के में अगर ज़रा भी कमी आई तो तुम्हारी खैर नहीं। और पान इस तरह से लगातार पहुँचते रहें कि बस ताता लग जाय।

अब इसके बाद की घटनाओं को कुछ मर्द ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। शुरू-शुरू में तो ताश बाक़ायदा होता रहा। जो खेल भी खेला गया, बहुत माकूल तरीक़े से, क़ानून और उसूल के मुताबिक़ तथा संजीदगी और सभ्यता के साथ। लेकिन एक-दो घण्टे के बाद कुछ मजाक़ का सिलसिला शुरू हुआ। यार लोगों ने एक-दूसरे के पत्ते देखने शुरू कर दिये। यह हालत थी कि आँख बची नहीं और एक-आध काम का पत्ता उड़ा नहीं और साथ ही क़हक़हे पर क़हक़हे उड़ने लगे। तीन घंटे के बाद यह हालत थी कि कोई घण्टा हिला-हिलाकर गा रहा है, कोई फ़र्श पर हाथ टेके सीटी बजा रहा है। कोई थियेटर का एक-आध मजाक़िया फ़िकरा लाखवार दुहरा रहा है लेकिन ताश बराबर हो रहा है। थोड़ी देर के बाद धौल-धप्पा शुरू हुआ। इस दिल्लगी के बीच में एक मसख़रे ने एक ने एक ऐसा खेल सोचा, जिसके आख़िर में एक आदमी बादशाह बन जाता है, दूसरा वज़ीर, तीसरा कोतवाल और जो सबसे हार जाता है वह चोर। सबने कहा—"वाह! वाह!! क्या बात

कहीं।" एक बोला—"फिर आज जो चोर बना, उसकी शामत आ जायगी।" दूसरे ने कहा—"और नहीं तो क्या, भला कोई ऐसा-वैसा खेल है सल्तनतों के मुआमले हैं सल्तनतों के।"

खेल शुरू हुआ। बदक़िस्मती से हम चोर बन गये। तरह-तरह की सज़ायें सोची जाने लगीं। कोई कहे—"नंगे पाँव भागते हुए जाय, और हलवाई की दूकान से मिठाई ख़रीद कर लाये।" कोई कहे—"नहीं हुज़ूर सबके पाँव पड़े और हर एक से दो-दो चांटे खाये।" दूसरे ने कहा—"नहीं साहब, एक पाँव पर खड़ा होकर हमारे सामने नाचे।" आख़िर में बादशाह सलामत बोले "हम हुक्म देते हैं कि चोर को काग़ज़ की एक लम्बी नौकदार टोपी पहनाई जाय और उसके मुँह पर स्याही मल दी जाय और यह इसी हालत में जाकर अन्दर से हुक्के की चिलम भर कर लाये।" सबने कहा—"क्या दिमाग़ पाया जाता है हुज़ूर ने क्या सज़ा तजबीज़ की है! वाह वाह! वाह!!"

हम भी मजे में आये हुए थे। हमने कहा—"तो हुआ क्या? आज हम हैं, कल किसी और की बारी आ जायगी।" निहायत ख़ुशी से अपने चेहरे को पेश किया। हँस-हँस कर वह बेहूदा-सी टोपी पहनी। बड़ी शान के साथ चिलम उठाई और ज़नान-ख़ाने का दरवाज़ा खोलकर बावरचीख़ाने में चल दिये और हमारे पीछे कमरा क़हक़हों से गूँज रहा था।

आँगन में पहूँचे ही थे कि बाहर का दरवाज़ा खुला और एक बुर्क़ा पोश महिला अन्दर दाख़िल हुई। मुँह से बुर्क़ा उल्टा तो रोशन-आरा!

दम ख़ुश्क हो गया, बदन काँपने लगा, माथे पर पसीने आगये, ज़बान बन्द हो गई। सामने वह रोशन-आरा जिसको मैंने तार देकर बुलाया था कि तुम फ़ौरन आ जाओ, मैं बहुत

उदास हूँ और अपनी यह हालत कि मुँह पर स्याही मली है, सिर पर वह लम्बोतरी-सी काग़ज़ की टोपी पहन रखी है और हाथ में चिलम उठाये खड़े हैं। मर्दाने से क़हक़हों का शोर बराबर आ रहा है।

प्राण जम गये और तमाम इन्द्रियों ने जवाब दे दिया। रोशन-आरा कुछ देर तो चुपकी खड़ी देखती रही और फिर कहने लगी..... लेकिन मैं क्या बताऊँ, क्या कहने लगी? उस की आवाज़ तो मेरे कानों तक जैसे बेहोशी की हालत में पहुँच रही थी।

अब तक आप इतना तो जान गये होंगे कि मैं स्वयं एक निहायत शरीफ़ आदमी ठहरा हूँ। जहाँ तक मैं मैं हूँ, मुझसे अच्छा मियाँ दुनिया पैदा नहीं कर सकती। मेरी ससुराल में सबकी यही राय है और मेरा अपना ईमान भी यही है। लेकिन इन दोस्तों ने मुझे बदनाम कर दिया है। इसलिये मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि अब या घर में रहूँगा अथवा काम पर जाया करूँगा। न किसी से मिलूँगा और न किसी को अपने घर आने दूँगा। सिवाय डाकिये तथा हज्जाम के और इनसे भी संक्षिप्त बातें किया करूँगा।

"ख़त है?"

"जी हाँ।"

"दे जाओ, चले जाओ।"

"नाखुन काट दो।"

"भाग जाओ!"

बस इससे ज्यादा बात न करूँगा। आप देखिये तो सही।

अधिकतर लोगों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य होता है कि मैं अपने वतन का जिक्र कभी नहीं करता। कुछ इस बात पर भी हैरान हैं कि मैं अब कभी अपने वतन को नहीं जाता। जब कभी लोग मुझ से इसकी वजह पूछते हैं तो मैं हमेशा बात टाल देता हूँ। इससे लोगों को तरह-तरह के सन्देह होने लगते हैं। कोई कहता है—वहां इस पर एक मुकदमा बन गया है, उसकी वजह से रूपोश है। कोई कहता है, वहां मुलाजिम था, चोरी का इल्जाम लगा, भागते ही बनी। कोई कहता है, वालिद इसकी बद-चलनी की वजह से घर में नहीं घुसने देते। जितने मुँह उतनी बातें। आज मैं इन सब ग़लत-फ़हमियों को दूर करने वाला हूँ। खुदा आप पढ़ने वालों को इन्साफ़ की ताक़त दे।

किस्सा मेरे भतीजे से शुरू होता है। मेरा भतीजा यों देखने में साधारण भतीजों से भिन्न नहीं। मेरी तमाम खूबियाँ उसमें मौजूद हैं और इसके अतिरिक्त नई पौद से ताल्लुक रखने के कारण उसमें कुछ फ़ाल्तू खूबियां भी नजर आती हैं। लेकिन एक गुण तो उसमें ऐसा है कि आज तक हमारे ख़ान्दान में इस तेजी के साथ कभी ज़ाहिर न हुआ था। वह यह कि बड़ों की इज्जत करता है। और मैं तो उसके नज़दीक बस इल्म और हुनर का एक देवता हूँ। यह पागलपन उसके दिमाग़ में क्यों समाया है? इसकी वजह मैं यही बता सकता हूँ कि निहायत ऊँचे से ऊँचे

खान्दानों में भी कभी-कभी ऐसा देखने में आजाता है। मैंने सभ्य से सभ्य खान्दानों के लड़कों को किसी वक़्त बुज़ुर्गों की इतनी इज्ज़त करते देखा है कि उन पर नीच जाति का धोखा होने लगता है।

एक साल मैं कांग्रेस के जल्से में चला गया। बल्कि यह कहना सही होगा कि कांग्रेस का जल्सा मेरे पास चला आया। मतलब यह कि जिस शहर में मैं मौजूद था, वहीं कांग्रेस वालों ने भी अपना सालाना जल्सा करने की ठान ली। मैं पहले भी कई जगह यह ऐलान कर चुका हूँ और अब भी डंके की चोट यह कहने को तैयार हूँ कि इसमें मेरा ज़रा भी कसूर न था। कुछ लोगों को यह शक है कि मैंने केवल अपना फ़ुर्सत का वक़्त काटने के लिये कांग्रेस का जल्सा अपने पास ही करा लिया। लेकिन यह महज़ दुश्मनों की कुचेष्टा है भांड़ों को मैंने प्रायः शहर में बुलवाया है। दो एक मरतबा कुछ थियेटरों को भी निमन्त्रण दिया है। लेकिन कांग्रेस के मुक़ाबले में मेरा रवैया हमेशा एक गुमनाम शहरी का-सा रहा है। बस इससे ज्यादा मैं इस विषय पर कुछ न कहूँगा।

जब कांग्रेस का सालाना जल्सा बंगाल में हो रहा हो तो कौन ऐसा शख़्श होगा जो वहाँ जाने से परहेज करे। ज़माना भी छुट्टियों और फ़ुर्सत का था। अतः मैंने वक़्त काटने के लिये इस जल्से की एक-एक तक़रीर (भाषण) सुनी। दिन भर तो जल्से में रहता। रात को घर आकर इस दिन का संक्षिप्त-सा हाल अपने भतीजे को लिख भेजता, जिससे कि सनद रहे और ज़रूरत के वक़्त काम आये।

बाद की घटनाओं से मालूम होता है कि भतीजे साहब मेरे प्रत्येक ख़त को बड़ी इज्ज़त और श्रद्धा के साथ खोलते। बल्कि

कुछ बातों से तो जाहिर होता है कि इस उद्घाटन से पहले वह बाक़ायदा वज़ू भी कर लेते। ख़त को खुद पढ़ते फिर दोस्तों को सुनाते। फिर अख़बारों के एजेन्ट की दुकान पर स्थानीय लाल-बुझक्कड़ों के हल्ले में उसको खूब बढ़ा-चढ़ा कर दोहराते। फिर स्थानीय अख़बार के बेहद स्थानीय एडीटर के हवाले कर देते। जो इसे बड़े बन्दोबस्त के साथ छाप देता। इस अख़बार का नाम मुरीदपुर गज़ट है इसकी मुकम्मिल फाइल किसी के पास मौजूद नहीं! दो महीने तक जारी रहा, फिर कुछ आर्थिक कठिनाइयों की वजह से बन्द हो गया। एडीटर साहब का हुलिया निम्न-लिखित है—

"रंग गंदुमी, बातचीत तार्किक ढंग की, शकल से चोर मालूम होते हैं। किसी साहब को इनका पता मालूम हो तो मुरीदपुर की ख़िलाफ़त कमेटी को सूचना पहुँचादें। तथा कोई साहब इनको हर्गिज़ कोई चन्दा न दें। ख़िलाफ़त कमेटी ज़िम्मेदार न होगी।

यह भी सुनने में आया है कि इस अख़बार ने मेरे इन ख़तों के बल पर अथवा एक कांग्रेस अंक भी निकाल मारा। जो इतनी बड़ी तादाद में छपा कि उसके पन्ने अब तक कुछ पन्सारियों की दुकानों पर नज़र आते हैं। बहर-हाल मुरीदपुर के बच्चे-बच्चे ने मेरी साहित्यक योग्यता, आला-दिमाग़ी और क़ौमी जोश की प्रशंसा की। मेरी इजाज़त और मेरी जानकारी के बग़ैर मुझको मुरीदपुर का क़ौमी लीडर बना दिया गया। एक-दो शाइरों ने मुझ पर नज़्में भी लिखीं जो समय-समय पर मुरीदपुर के गज़ट में छपती रहीं।

मैं अपनी इस लीडरी और सम्मान से बिल्कुल बेख़बर था। सचहै, ख़ुदा जिसको चाहता है, इज़्ज़त देता है। मुझे क्या मालूम

था कि मैंने अपने भतीजे को सिर्फ कुछ खत लिख कर अपने हमवतनों के दिलों में इस क़दर घर कर लिया है और किसी को क्या मालूम था कि यह मामूली-सा इन्सान जो हर रोज चुपचाप सिर नीचा किये बाज़ार में से गुज़र जाता है, मुरीदपुर में पूजा जाता है। मैं वे खत लिखने के बाद कांग्रेस और उसकी तमाम हलचलों को बिलकुल भूल चुका था। मुरीदपुर गज़ट का मैं खरीदार न था। भतीजे ने मेरी बुजुर्गी के रोब की वजह से कभी चर्चा के तौर पर इतना भी न लिख भेजा कि आप लीडर हो गये हैं।। मैं जानता हूँ कि वह मुझसे यों कहता तो लेकिन बहरहाल मुझे कुछ तो मालूम होता कि मैं तरक़्क़ी करके कहाँ से कहाँ पहुँच चुका हूँ।

कुछ दिनों बाद खून की खराबी की वजह से मुल्क में जगह-जगह जल्से निकल आये। जिस किसी को एक मेज, एक कुर्सी एक गुलदान मुयस्सर आया, उसी ने जल्से का ऐलान कर दिया। जल्सों की इस फ़सल में एक दिन मुरीदपुर की भारतीय युवक-संघ की तरफ से मेरे नाम इस मजमून का एक खत आया कि आपके शहर के लोग आपके दीदार के मुन्तज़िर हैं। हर छोटा बड़ा आपके मुखचन्द्र के देखने और आपके पवित्र ख्यालों से लाभ उठाने के लिये बेताब है। मानते हैं कि मुल्क भर को आपकी सेवाओं की निहायत जरूरत है, लेकिन वतन का हक़ सब से ज्यादा है। क्योंकि "वतन के कांटे भी संबुल और फूलों से अच्छे होते हैं।" इसी प्रकार दो तीन उदाहरणों के बाद मुझसे यह दरख्वास्त की गई थी कि आप यहाँ आकर लोगों को हिन्दू-मुस्लिम एकयता की हिदायत करें।

खत पढ़कर मेरे आश्चर्य की हद न रही। लेकिन जब ठंडे दिल से इस पर ग़ौर किया तो आहिस्ता-आहिस्ता मुरीदपुर

निवासियों की मर्दुम-शानासी का क़ायल हो गया।

मैं एक कमज़ोर इन्सान हूँ और फिर एक लीडरी का नशा एक क्षण में ही चढ़ जाता है। इस एक क्षण के अन्दर मुझे अपना वतन बहुत ही प्यारा मालूम होने लगा। वतन वालों जनता पर बड़ा तर्स आया। एक आवाज़ ने कहा कि इन ोचारों की भलाई और रहनुमाई का जिम्मेदार तू ही है। तुझे खुदा ने तदबीर की ताक़त बख़शी है। हज़ारों इन्सान तेरे मुन्त-ज़िर हैं। उठ, सैंकड़ों लोग तेरे लिए उपहार लिये बैठे होंगे। अतः मैंने मुरीदपुर की दावत क़बूल करली और लीडराना अन्दाज़ में तार के ज़रिये सूचना दी कि पन्द्रह दिन के बाद अमुक ट्रेन से मुरीदपुर पहुँच जाऊँगा। स्टेशन पर कोई शख़्स न आये। हर एक शख़्स को चाहिए कि अपने-अपने काम में लगा रहे। हिन्दुस्तान को इस वक़्त अमल की ज़रूरत है।

इसके बाद जल्से के दिन तक मैंने अपनी ज़िन्दगी का एक-एक क्षण अपनी होने वाली तक़रीर के लिये तैयारी में खर्च कर दिया। तरह-तरह के फ़िक़रे दिमाग़ में सुबह-शाम फिरते रहे।

"हिन्दू और मुस्लिम भाई-भाई हैं।"

"हिन्दू और मुस्लिम दूध-शक्कर हैं।"

"हिन्दुस्तान की गाड़ी के पहिये, ऐ मेरे दोस्तो! हिन्दू और मुसलमान ही तो हैं।"

"जिन क़ौमों ने संगठन की रस्सी को मज़बूत पकड़ा, वे इस वक़्त सभ्यता के शिखर पर हैं। जिन्होंने हसद और फूट को अपनाया, तारीख़ ने उनकी तरफ़ से अपनी आँखें बन्द कर ली हैं।" वग़ैरा-वग़ैरा।

बचपन के ज़माने में किसी किताब में "सुना है कि दो बैल रहते थे इक जा" वाला सबक़ पढ़ा था। उसे निकाल कर नये सिरे से फिर पढ़ा और उसकी तमाम बातों को लिख लिया। फिर याद आया कि एक कहानी भी पढ़ी थी। जिसमें एक शख़्स मरते वक़्त अपने तमाम लड़कों को बुलाकर लकड़ियों का एक गट्ठा उनके सामने रख देता है और उनसे कहता है कि इस गट्ठे को तोड़ो। वे तोड़ नहीं सकते। फिर उस गट्ठे को खोल कर एक एक लकड़ी उन सबके हाथों में दे देता है, जिसे वे आसानी से तोड़ लेते हैं। इस तरह वह संगठन का सबक़ अपनी औलाद को सिखाता है। इस कहानी को भी लिख लिया। तक़रीर का आरम्भ सोचा तो कुछ इस तरह की भूमिका मुनासिब मालूम हुई—

"प्यारे हम वतनों!"

घटा सिर पै अदबार की छा रही है।
फ़लाकत समाँ अपना दिखला रही है॥
नहूसत पशो-पेश मंडला रही है।
यह चारों तरफ से सदा आ रही है॥
कि कल कौन थे आज क्या हो गये तुम।
अभी जागते थे अभी सो गये तुम॥

हिन्दुस्तान के जिस प्रसिद्ध शायर यानी मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली पानीपती ने आज से कई वर्ष पहले ये शेर लिखे थे। उसको क्या मालूम था कि ज्यों-ज्यों ज़माना गुज़रता जायगा उसके ये दर्द भरे वाक्य दिन-पर-दिन सत्य होते जायंगे। आज हिन्दुस्तान की यह हालत है..... वग़ैरा वग़ैरा।"

इसके बाद सोचा कि हिन्दुस्तान की हालत का एक दर्दनाक नक़्शा खींचूंगा। कंगाली, ग़रीबी, हसद वग़ैरा की तरफ इशारा करूँगा और फिर पूछूँगा कि इसकी वजह आख़िर क्या है। इन तमाम कारणों को दुहराऊँगा जो लोग प्रायः बयान करते हैं। जैसे ग़ैर मुल्की हुकूमत, आब-हवा, पश्चिमी सभ्यता। लेकिन इन सबको बारी-बारी ग़लत ठहराऊंगा और फिर असली वजह बताऊंगा कि असली वजह हिन्दुओं और मुसलमानों की फूट है। आख़िर में ऐकता की नसीहत करूँगा और तक़रीर को इस शेर पर ख़त्म करूंगा—

आ अन्दलीब मिलके करें आहो-ज़ारियाँ
तू हाय गुल पुकार मैं चिल्लाऊं हाय दिल

दस-बारह दिन अच्छी तरह ग़ौर कर लेने के बाद मैंने इस तक़रीर का एक ख़ाका-सा बना लिया और सबको एक काग़ज़ पर लिख लिया, जिससे कि जल्से में उसे अपने सामने रख सकूँ। वह ख़ाका कुछ इस तरह का था—

(१) भूमिका, हाली के शेर (ऊँची और दर्दनाक आवाज़ से पढ़ो)

(२) हिन्दुस्तान की मौजूदा हालत।

(क) ग़रीबी।

(ख) हसद।

(ग) क़ौमी लीड़रों की ख़ुद ग़रज़ी।

(३) इसकी वजह।

(क) क्या ग़ैर-मुल्की हुकूमत है ? नहीं।

(ख) क्या आब-हवा है ? नहीं।

(ग) क्या पश्चिमी सभ्यता है ? नहीं।

तो फिर क्या है ? (अवकाश—जिसके बीच में मुस्कराते हुए तमाम लोगों पर एक नजर डालो ।)

(४) फिर बताओ कि वजह हिन्दू और मुसलमानों की फूट है (नारों के लिये अवकाश) उसका नकशा खींचो । फिसादों का जिक्र दर्द भरी आवाज में करो । (इसके बाद शायद फिर कुछ नारे लगें । उसके लिये जरा ठहर जाओ)

(५) खात्मा—कुछ नसीहतें जैसे संगठन की हिदायत (शेर) (इसके बाद आजिज़ी के अन्दाज़ में जाकर अपनी कुर्सी पर बैठ जाओ और लोगों की दाद के जवाब में एक-एक क्षण के बाद सलाम करते रहो)

इस खाके को तैयार कर चुकने के बाद जलसे के दिन तक हर रोज इस पर एक नजर डालता रहा और शीशे के सामने खड़े होकर कुछ खास-खास फिक़रों का अभ्यास करता रहा । नं० ३ के बाद की मुस्कराहट का खास अभ्यास किया । खड़े होकर दायें से बायें और बायें से दायें घूमने की आदत डाली जिससे कि तक़रीर के बीच में आवाज सब तरफ पहुँच सके और सब लोग इत्मीनान के साथ एक-एक शब्द सुन लें ।

मुरीदपुर का सफर आध घन्टे का था । रास्ते में सांगा के स्टेशन पर गाड़ी बदलनी पड़ती थी । भारतीय नवयुवक संघ के कुछ जोशीले कार्यकर्त्ता वहाँ स्वागत को आये हुए थे । उन्होंने हार पहनाये और कुछ फल वग़ैरा खाने को दिये । सांगा से मुरीदपुर तक उनके साथ प्रमुख राजनैतिक मसलों पर बहस करता रहा । जब गाड़ी मुरीदपुर पहुँची तो स्टेशन के बाहर कम-से-कम तीन हजार आदमियों की भीड़ थी । जो बराबर नारे लगा रही थी । मेरे साथ जो स्वयं सेवक थे, उन्होंने

कहा—"सिर बाहर निकालिये लोग देखना चाहते हैं।" मैंने हुक्म की तामील करी। हार मेरे गले में थे। एक सन्तरा मेरे हाथ में था। मुझे देखा तो लोग और भी जोश के साथ नारे लगाने लगे। बड़ी मुश्किल से बाहर निकला। मोटर में मुझे सवार कराया गया और जलूस पिन्डाल की तरफ चला।

पिन्डाल में दाखिल हुए तो भीड़ पाँच छः हज़ार तक पहुँच चुकी थी। जो एक स्वर में मिलकर मेरा नाम ले लेकर नारे लगा रही थी। दायें बायें लाल-लाल झण्डों पर मुझ सेवक की तारीफ में कुछ लिखा हुआ था। जैसे "हिन्दुस्तान की आज़ादी तुम्हीं से है।" "मुरीदपुर के सपूत ज़िन्दाबाद" "हिन्दुस्तान को इस वक्त अमल की जरूरत है।"

मुझ को स्टेज पर बैठाया गया। सभापति ने लोगों के सामने मुझसे दोबारा हाथ मिलाये और मेरे हाथ को चूमा। फिर अपनी परिचय-सम्बन्धी तकरीर यों शुरू की—

"हज़रात! हिन्दुस्तान के जिस प्रसिद्ध और ऊँचे दर्जे के लीडर को आज के जल्से में तक़रीर करने के लिये बुलाया गया है..... ।"

तक़रीर का लफ़्ज़ सुनकर मैंने अपनी तक़रीर के प्रारम्भिक फिक़रों को याद करने की कोशिश करी, लेकिन इस वक्त दिमाग़ इस कदर भिन्न भिन्न बातों से घिरा हुआ था कि पर्चा देखने की ज़रूरत पड़ी। जेब में हाथ डाला तो पर्चा गायब। हाथ पैरों में सहसा एक मामूली-सी सर्दी महसूस हुई। दिल को सँभाला कि ठहरो, अभी और कई जेबें हैं। घबराओ नहीं। कप कपाहट की हालत में सब जेबें देख डालीं, लेकिन वह कागज़ कहीं नहीं मिला। तमाम हाल आंखों के सामने चक्कर खाने लगा। दिल ने ज़ोर-ज़ोर से धड़कना शुरू किया। ओंठ खुश्क

होते महसूस हुए। दस-बारह बार जेबों को टटोला,; लेकिन कुछ भी हाथ न आया। जी चाहा कि ज़ोर-ज़ोर से रोना शुरू करदूँ। बेबसी की हालत में ओंठ काटने लगा। सभापति अपनी तक़रीर बराबर कर रहे थे—

"……मुरीदपुर का शहर इन पर जितना भी गर्व करे, कम है। हर सदी और हर मुल्क में केवल कुछ ही आदमी ऐसे पैदा होते हैं जिनकी ज़िन्दगी लोगों के लिये……।"

या ख़ुदा! अब क्या करूँगा? एक तो हिन्दुस्तान की हालत का नक़्शा खींचना है। नहीं इससे पहिले यह बताना है कि हम कितने नालायक हैं। नालायक़ लफ़्ज़ तो अनुचित होगा। जाहिल कहना चाहिये। यह भी ठीक नहीं। असभ्य?

" …इनके उच्च राजनैतिक ज्ञान इनके क़ौमी जोश और पवित्र सहानुभूति से कौन वाक़िफ़ नहीं। ये सब बातें तो ख़ैर आप जानते हैं। लेकिन तक़रीर करने में जो कमाल इनको हासिल है……।"

हाँ, वह तक़रीर कहाँ से शुरू होती है। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर तक़रीर… …कुछ नसीहतें ज़रूर करनी हैं। लेकिन वे तो आख़िर में हैं। वह बीच में मुस्कराना कहाँ था?

"……मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि आपके दिल दहला देंगे और आपको ख़ून के आँसू रुलायेंगे ……।"

सभापति की आवाज़ नारों में डूब गई। दुनियाँ मेरी आँखों के सामने घूम रही थी। इतने में सभापति ने मुझसे कहा 'मुझे कुछ सुनाई न दिया' इतना महसूस हुआ कि तक़रीर का वक़्त सिर पर आन पहुँचा है और मुझे अपनी कुर्सी पर से उठना है। अतः एक अज्ञात ताक़त के सहारे उठा।

कुछ लड़खड़ाया-लेकिन फिर सँभल गया। हाथ काँप रहा था। हॉल में एक शोर था। मैं बेहोशी से जरा ही परे था और नारों की गूँज उन लहरों के शोर की तरह सुनाई दे रही थीं, जो डूबते हुए इन्सान के सिर पर से गुजर रही हों। तक़रीर शुरू कहाँ से होती है? लीडरों की खुद-मर्ज़ी भी जरूर बयान करनी है। और क्या कहना है? एक कहानी भी थी। "बगुले और लोमड़ी की कहानी" नहीं, ठीक है-दो बैल……।"

इतने में हाल में सन्नाटा छा गया। लोग सब मेरी तरफ़ देख रहे थे। मैंने अपनी आंखें बन्द करलीं और सहारे के लिए मेज़ को पकड़ लिया। मेरा दूसरा हाथ भी कांप रहा था। वह भी मैंने मेज़ पर रख दिया। इस वक़्त ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे मेज़ भागने को है और मैं उसे रोके खड़ा हूँ। मैंने आँखें खोली और मुस्कराने की कोशिश करी। गला खुश्क था बड़ी मुश्किल से मैंने कहा—

"प्यारे हमवतनो!"

आवाज़ उम्मीद में खिलाफ़ बहुत ही बारीक और भाराई हुई सी निकली। एक दो शख्श हँस दिये। मैंने गले को साफ़ किया तो और कुछ लोग हँस पड़े। मैंने जी कड़ा करके जोर से बोलना शुरू किया। फेफड़ों पर अचानक जोर पड़ने से आवाज़ बहुत ही तेज़ निकल पड़ी। इस पर बहुत से लोग खिलखिला कर हँस पड़े। हँसी थमी तो मैंने कहा—

"प्यारे हमवतनो!"

इसके बाद जरा दम लिया और फिर कहा कि—

"प्यारे हमवतनो!"

कुछ याद न आया कि इसके बाद क्या कहना है। बीसियों बातें दिमाग़ में चक्कर लगा रही थीं, लेकिन ज़बान तक एक न आती थी।

"प्यारे हमवतनो !"

अब के लोगों की हँसी से मैं भिन्ना गया। अपने अपमान पर बड़ा ग़ुस्सा आया। इरादा किया कि इस बार जो मुँह में आया, कह दूंगा। एक बार तक़रीर शुरू करदूं तो फिर कोई मुश्किल न रहेगी।

"प्यारे हमवतनो ! कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान की आब-हवा ख़राब यानी ऐसी है कि हिन्दुस्तान में बहुत सी ख़राबियाँ हैं.....समझे आप ? (अवकाश) ख़राबियाँ हैं। लेकिन यह बात यानी अमर जिसकी तरफ़ मैंने इशारा किया है, गोया बिलकुल ग़लत है।" (क़हक़हा)

होश बिगड़ रहे थे। समझ में न आता था कि आख़िर तक़रीर का सिलसिला क्या था। अचानक बैलों की कहानी और रास्ता कुछ साफ़ होता दिखाई दिया।

"हाँ, तो बात दरअसल यह है कि एक जगह दो बैल इकट्ठे रहते थे। जो बावजूद आब-हवा और ग़ैर-मुल्की हुकूमत के" (ज़ोर का क़हक़हा)

यहाँ तक पहुँच कर महसूस किया कि तक़रीर कुछ बेमेल-सी हो रही है। मैंने कहा, चलो वह लकड़ी के गट्ठे की कहानी शुरू करदें।

"जैसे आप लकड़ियों के एक गट्ठे को लीजिये। लकड़ियाँ प्रायः महँगी मिलती हैं। वजह यह है कि हिन्दुस्तान में ग़रीबी

बहुत है। गोया चूंकि प्रायः लोग ग़रीब हैं। इसलिये गोया लकड़ियों का गट्ठा यानी आप देखिये न, कि अगर"

(बुलन्द और लम्बा कहकहा)

"हजरात अगर आपने अक़्ल से काम न लिया तो आप की क़ौम फ़ना हो जायगी नहूसत मँडला रही है (क़हक़हे और शोर-गुल.....इसे बाहर निकालो, हम नहीं सुनते)"

"शेख़ सादी ने कहा है कि—

चू अज क़ौमे यके बेदानिशी कर्द (जब से क़ौम ने एक मूर्खता करी) (आवाज आई-क्या बकता है) ख़ैर इस बात को जाने दीजिये। बहर हाल इस बात में तो किसी को शुबा नहीं हो सकता कि—

आ अन्दलीब मिलकर करें आहो-जारियाँ
तू हाय दिल पुकार मैं चिल्लाऊँ हाय गुल

इस शेर ने खून का दौरा तेज कर दिया। साथ ही लोगों का शोर भी बहुत ज्यादा हो गया। अतः मैं बड़े जोश से बोलने लगा—

"जो क़ौमें इस वक्त बेदारी के आसमान पर चढ़ी हुई हैं, उनकी ज़िन्दगियाँ लोगों को तरक़्क़ी का मार्ग दिखाती हैं और उनकी हुकूमतें संसार की बुनियादें हिला रही हैं (लोगों का शोर और हँसी और भी बढ़ती गई) आपके लीडरों के कानों पर खुदग़र्ज़ी की पट्टी बँधी हुई है। दुनिया की तारीख़ इस बात की गवाह है कि ज़िन्दगी की वे तमाम बातें....."

लेकिन लोगों का शोर और क़हक़हे इतने बुलन्द हो गये कि मैं अपनी आवाज़ भी न सुन सकता था। कुछ लोग उठ खड़े हुए थे और गला फाड़-फाड़ कर कुछ कह रहे थे। मैं सिर से

पाँव तक काँप रहा था। भीड़ में से किसी शख्स ने बारिश के पहले क़तरे की तरह हिम्मत करके सिगरेट की ख़ाली डिबिया मुझ पर फेंक दी। इसके बाद चार-पाँच काग़ज की गोलियाँ मेरे आस-पास स्टेज पर आ गिरीं। लेकिन मैंने अपनी तक़रीर का सिलसिला जारी रखा।

"हज़रत! तुम याद रखो। तुम तबाह हो जाओगे"!

तुम दो बैल हो.....

लेकिन जब बौछाड़ बढ़ती ही गई तो मैंने इस मूर्खों की भीड़ से खिसकना ही उचित समझा स्टेज से कूदा और दौड़ कर के दरवाजे से बाहर का रुख़ किया। भीड़ भी मेरे पीछे लपकी। मैंने मुड़कर पीछे न देखा बल्कि सीधा भागता गया। कभी-कभी कुछ अनुचित आवाज़ें मेरे कानों तक आ जाती थीं। इनको सुनकर मैंने अपनी रफ़्तार और भी तेज़ कर दी और सीधा स्टेशन का रुख़ किया। एक ट्रेन प्लेट फ़ार्म पर खड़ी थी, मैं घबराया हुआ उसमें घुस गया। एक क्षण के बाद वह ट्रेन वहाँ से चल दी।

इस दिन के बाद आज तक न मुरीदपुर ने मुझे बुलाया है, न मुझे खुद वहाँ जाने की ख्वाहिश पैदा हुई है।

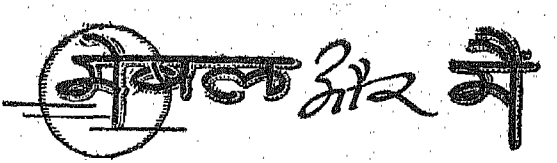

मेबल लड़कियों के कालिज में थी; लेकिन हम दोनों कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में एक ही मजबून पढ़ते थे। इसलिये प्रायः लैक्चरों में मुलाक़ात हो जाती थी। इसके अतिरिक्त हम दोस्त भी थे। कई दिलचस्पियों में एक दूसरे के शरीक होते थे, तस्वीरों और संगीत का शौक़ उसे भी था। मैं भी सब कुछ जानने का दावा रखता था 'प्रायः गैलरियों या कान्सरटों में इकट्ठे जाया करते थे। दोनों अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी थे। किताबों के बारे में आपस में बहस-मुबाहिसे रहते थे। हम में से अगर एक कोई नई किताब या नया लेखक "दरयाफ़्त" करता तो दूसरे को जरूर इससे सूचित कर देता। और फिर दोनों मिल कर उस पर अच्छे बुरे का हुक्म फ़रमाया करते।

लेकिन इस तमाम मेल-जोल और दोस्ती में एक झगड़ा जरूर था। हम दोनों ने बीसवीं सदी में परवरिश पाई थी। औरत और मर्द की बराबरी के क़ायल तो जरूर थे, फिर भी अपने खयालात में और कभी-कभी अपने रवैये में हम इसकी उपेक्षा जरूर कर देते थे। किन्हीं परिस्थितियों वश मेबल ऐसी रिआयतों को अपना हक़ समझती, जो सिर्फ़ किसी कमजोर क़िस्म ही के आदमी को मिलनी चाहियें और किसी वक़्त मैं स्वाभिमान तथा रहनुमाई का रवैया अख़्तियार कर लेता। जिसका मतलब यह था कि मानों एक मर्द होने की हैसियत से

मेरा फर्ज़ यही है। ख़ासकर मुझे यह अनुभव बहुत ज्यादा तकलीफ़ देता था कि मेबल का अध्यन मुझसे बहुत विस्तृत है। इससे मेरी पुरुषत्व की भावना को ठेस पहुँचती थी। कभी कभी मेरे बदन के अंदर मेरे एशियाई बाप-दादाओं का खून जोश मारता और मेरा दिल नई सभ्यता से बागी होकर मुझसे कहता कि पुरुष सबसे श्रेष्ठ है। इस तरफ मेबल औरत-मर्द की बराबरी का इज़हार बहुत बढ़ा चढ़ा कर करती थी यहाँ तक कि किसी वक़्त ऐसा मालूम होता था कि वह औरतों को दुनिया की रहबर और मर्दों को तुच्छ कीटाणु समझती है।

लेकिन इस बात को मैं क्योंकर सहन करता कि मेबल एक दिन दस बारह किताबें ख़रीदतीं और हफ़्ते भर के बाद उन्हें मेरे कमरे में फेंक कर चली जाती और साथ ही कह जाती कि मैं इन्हें पढ़ चुकी हूँ। तुम भी पढ़ चुकोगे तो इनके सम्बन्ध में बातें करेंगे।

प्रथम तो मेरे लिए एक हफ़्ते में दस-बारह किताबें ख़त्म करना मुश्किल था, लेकिन मान लीजिये मर्दों की लाज रखने के लिए रातों की नींद हराम करके इन सब का पढ़ डालना सम्भव भी होता तो भी इनमें दो या तीन किताबें फ़िल्सफ़े या तनक़ीद की ज़रूर ऐसी होतीं जिनके समझने के लिये मुझे काफ़ी समय चाहिये। इसलिए हफ़्ते भर की जानमारी के बाद मुझे एक औरत के सामने यह स्वीकार करना पड़ता कि मैं इस दौड़ में पीछे रह गया हूँ। जब तक वह मेरे कमरे में बैठी रहती, मैं कुछ खिसयाना-सा होकर उसकी बातें सुनता रहता और वह निहायत विद्वता के ढंग में भौंहें ऊपर को चढ़ा कर बातें करती। जब मैं उसके लिए दरवाज़ा खोलता या उसके सिगरेट के लिए दियासलाई

जलाता अथवा अपनी सबसे ज्यादा आराम देने वाली कुर्सी उसके लिए खाली करता तो वह मेरी खिदमतों को औरतों का हक नहीं बल्कि उस्तादी का हक समझकर ग्रहण करती।

मेबल के चले जाने के बाद मुझे अपनी शर्मिन्दगी पर बड़ा गुस्सा आता। जान या माल की कुर्बानी आसान है लेकिन इज्जत के लिए नेक-से-नेक इन्सान भी एक-न-एक बार तो जरुर ओछे हथियारों के इस्तेमाल पर उत्तर आता है। इसे मेरी चारित्रिक कमजोरी समझिये। लेकिन यही हालत मेरी भी हो गई। अगली बार जब मेबल से मुलाकात हुई तो जो किताबें मैंने नहीं पढ़ी थीं उनपर भी मैंने टीका-टिप्पणी शुरू करदी। लेकिन जो कुछ कहता था। सँभल-सँभल कर कहता था। व्याख्या के सम्बन्ध में कोई बात मुँह से न निकालता था। सरसरी तौर पर तनक़ीद करता था और बड़ी होशियारी तथा दानाई के साथ अपनी सम्मति को नवीनता का रंग देता था।

किसी नाविल के बारे में मेबल ने मुझसे पूछा तो जवाब में निहायत सादगी से कहा—

"हाँ अच्छी है। लेकिन कुछ ऐसी अच्छी भी नहीं। लेखक से नये जमाने का दृष्टि कोण कुछ निभ न सका। लेकिन फिर भी कुछ नुकते निराले हैं। बुरी नहीं, बुरी नहीं।"

कनखियों से मेबल की तरफ देखता गया। लेकिन उसे मेरी चालाकी बिलकुल मालूम न होने पाई। ड्रामे के बारे में कहा करता था—

"हाँ पढ़ा तो है लेकिन अभी तक मैं यह फैसला न कर सका कि जो कुछ पढ़ने वाले को महसूस होता है वह स्टेज पर जाकर भी बाक़ी रहेगा या नहीं ? तुम्हारा क्या खयाल है ?"

और इस तरह से अपनी शान भी कायम रहती और बात चीत का बोझ भी मेबल के कन्धों पर डाल देता।

तनक़ीद की किताबों के बारे में फ़रमाता—

"इस नक़्क़ाद पर अठारहवीं सदी के नक़ादों का कुछ-कुछ असर मालूम होता है। लेकिन यों ही नामालूम-सा कहीं-कहीं बिलकुल हल्का-सा और शाइरी के बारे में इसका रवैया दिलचस्प है। बहुत दिलचस्प ! बहुत दिलचस्प !!

आहिस्ता-आहिस्ता मुझे इस फन में कमाल हासिल हो गया। जिस रवानी और खूबी के साथ मैं ग़ौर पढ़ी हुई किताबों पर बातचीत कर सकता था, इस पर खुद हैरान रह जाता था। इससे भावों को एक सुख अनुभव हुआ।

अब मैं मेबल से न दबता था। उसे भी मेरी विद्वत्ता का लोहा मानना पड़ा। वह अगर हफ्ते में दस किताबें पढ़ती थी तो मैं केवल दो दिन के बाद इन सब किताबों पर बहस कर सकता था। अब उसके सामने शर्मिन्दगी का कोई मौका नहीं था। मेरी पुरुषत्व की भावना में अपनी इस विजय से एक शक्ति सी आ गई थी। अब मैं उसके सामने कुर्सी खाली करता, या दियासलाई जलाता तो सन्मान और श्रेष्ठता के अनुभव के साथ, जैसे एक अनुभवी ताकतवर नौजवान एक नादान कमजोर बच्ची की हिफ़ाज़त कर रहा हो।

सचाई की राह पर चलने वाले इन्सान मेरे इस फ़रेब को न सराहें तो न सराहें, लेकिन मैं कम-से-कम मर्दों के क्षेत्र में से इसकी दाद ज़रूर चाहता हूँ। औरतें मेरी इस हरक़त के लिए मुझ पर दुहरी-दुहरी लानतें भेजेंगी कि एक तो मैंने मक्कारी और झूठ से काम लिया और दूसरे एक औरत को धोखा दिया।

उनकी तसल्ली के लिए मैं यह कहना चाहता हूं कि आप यक़ीन मानिये कई बार अकेले में मैंने अपने आपको बुरा-भला कहा। कभी-कभी अपने आप से नफ़रत होने लगती। साथ ही इस बात का भुलाना भी मुश्किल हो गया कि मैं ग़ौर पढ़ने ही के इल्मियत जताता रहता हूं। मेबल तो ये सब किताबें पढ़ चुकने के बाद ही बातचीत करती है, तो बहरहाल उसको मुझ पर प्रधानता तो ज़रूर प्राप्त है। मैं अपनी कम-इल्मी ज़ाहिर नहीं होने देता। लेकिन हक़ीक़त तो यही है न कि मैं वे किताबें नहीं पढ़ता। मेरी बेवकूफ़ी उसके नज़दीक न सही, मेरे अपने नज़दीक तो पूरी है। इस ख़याल से दिल की तसल्ली फिर खो जाती और अपने आप एक औरत के मुक़ाबिले में फिर हक़ीर नज़र आने लगता। पहले तो मैं मेबल को केवल विद्वान समझता था, अब वह अपने मुक़ाबले में पवित्रता और सच्चाई की देवी भी नज़र आने लगी।

बीमारी के दौरान में मेरा दिल ज़्यादा नर्म हो जाता है। बुख़ार की हालत में कोई बाज़ारी-सा नाविल पढ़ते वक़्त भी कभी-कभी मेरी आँखों से आँसू जारी हो जाते हैं। स्वस्थ होकर मुझे अपनी इस कमज़ोरी पर हँसी आती है लेकिन उस वक़्त अपनी कमज़ोरी का अनुभव नहीं होता। मेरी बदक़िस्मती कि इन्हीं दिनों मुझे मामूली-सा इन्फ़लोइञ्ज़ा हुआ। ख़तरनाक न था। बहुत दुखदायक भी न था; फिर भी गुज़री हुई ज़िन्दगी के तमाम छोटे-छोटे गुनाह पहाड़ बनकर नज़र आने लगे। मेबल का ख़याल आया तो दिल ने सख़्त मलामत की और मैं बहुत देर तक बिस्तर पर पेच-ताप खाता रहा था। शाम के वक़्त मेबल कुछ फूल लेकर आई। ख़ैरियत पूछी। दवा पिलाई माथे पर हाथ रखा। मेरे आँसू टप-टप गिरने लगे। मैंने कहा

(मेरी आवाज़ भर्राई हुई थी) "मेबल, मुझे ख़ुदा के लिये माफ़ करदो।" इसके बाद मैंने अपने गुनाह को स्वीकार किया और अपने आपको सज़ा देने के लिये अपनी मक्कारी की हर एक बात बयान करदी। हर उस किताब का नाम लिया, जिस पर मैंने बग़ैर पढ़े लम्बी-लम्बी विद्वत्तापूर्ण तक़रीरें करीं थीं। मैंने कहा—"मेबल! पिछले हफ़्ते जो तीन किताबें तुम मुझे दे गई थीं, उनके सम्बन्ध में तुम से कितनी बहस करता रहा हूँ। लेकिन मैंने उनका एक लफ़्ज़ भी नहीं पढ़ा। मैंने कोई-न-कोई बात ऐसी ज़रूर कही होगी, जिससे मेरी पोल तुम पर खुल गयी होगी।"

कहने लगी—"नहीं तो।"

मैंने कहा—"जैसे नाविल तो मैंने पढ़ा ही न था। चरित्रों के सम्बन्ध में जो कुछ बक रहा था वह सब मन घड़न्त था।"

कहने लगी—"कुछ ऐसा ग़लत भी न था।"

मैंने कहा—"प्लाट के सम्बन्ध में मैंने यह ख़्वाख़ ज़ाहिर किया था कि ज़रा ढीला है। यह भी ठीक था?"

कहने लगी—"हाँ, प्लाट कहीं-कहीं ढीला ज़रूर है।"

इसके बाद मेरी गुज़री हुई धोखेबाज़ी पर वह और मैं दोनों हँसते रहे। मेबल जाने लगी तो बोली—"तो वे किताबें मैं लेती जाऊँ?"

मैंने कहा—"एक तोबा करने वाले इन्सान को अपनी अस्लाह का मौक़ा तो दो। मैंने इन किताबों को अब तक नहीं पढ़ा, लेकिन अब मैं पढ़ने का इरादा रखता हूँ। इन्हें यहीं रहने दो। तुम तो इन्हें पढ़ चुकी हो।"

कहने लगी—"हाँ मैं तो पढ़ चुकी हूँ। अच्छा मैं यहीं छोड़े जाती हूँ।"

उसके चले जाने के बाद मैंने इन किताबों को पहली बार खोला। तीनों में से किसी एक के पन्ने तक न कटे थे। मेबल ने भी उन्हें अभी तक न पढ़ा था !

मुझे मर्द और औरत दोनों की बराबरी में कोई शक़ बाक़ी न रहा।

"सिनेमा का इश्क़" शीर्षक तो बड़ा आकर्षक है, लेकिन अफ़सोस कि इस मज़मून से आपकी तमाम उम्मीदें ज़ख्मी होंगी। क्योंकि मुझे तो इस मज़मून में कुछ दिल के दाग़ दिखाने हैं।

इससे आप यह समझिये कि मुझे फ़िल्मों से दिलचस्पी नहीं। अथवा सिनेमा के संगीत और अंधेरे में जो रोमांस है, मैं उसका क़ायल नहीं। मैं तो सिनेमा के सम्बन्ध में बचपन से ही बुज़ुर्गों के ग़ुस्से का शिकार रह चुका हूँ। लेकिन आजकल हमारे दोस्त मिर्ज़ा साहब की महरबानियों की बदौलत सिनेमा जैसे मेरी एक दुखती हुई नस बनकर रह गया है। जहाँ इसका नाम सुन पाता हूँ, कुछ दर्द-भरी घटनाओं की याद ताज़ा हो जाती है। जिससे आहिस्ता-आहिस्ता मेरी तबीयत कुछ ऊब-सी गई है।

अव्वल तो खुदा के फ़ज़ल से हम सिनेमा कभी वक़्त पर नहीं पहुँच सके। इसमें मेरी सुस्ती को ज़रा दख़ल नहीं। यह सब क़सूर हमारे दोस्त मिर्ज़ा साहब का है। जो कहने को तो हमारे दोस्त हैं, लेकिन खुदा गवाह है उनकी दोस्ती से जो-जो नुक़सान हमें पहुंचे हैं, वे किसी दुश्मन की ताक़त से भी बाहर होंगे।

जब सिनेमा जाने का इरादा हो, हफ़्ता भर पहले से उन्हें कह रखता हूँ कि क्यों भई मिर्ज़ा अगली जुमरात सिनेमा चलोगे

न ? मेरा अभिप्राय यह होता है कि वह पहले से तैयार रहे और अपने तमाम कामों की फ़हरिस्त कुछ इस ढंग से बनालें कि जुमारात के दिन उनके काम में कोई हर्ज न हो। लेकिन वे जवाब में मेरी बातों की क़द्र न करते से फरमाते हैं—

"अरे भई चलेंगे क्यों नहीं! क्या हम इन्सान नहीं ? हमें मनोरंजन की ज़रूरत नहीं होती ? और फिर कभी हमने तुमसे आज तक ऐसी बे मुरव्वती भी बरती है कि तुमने चलने को कहा हो और हमने तुम्हारा साथ न दिया हो ?"

उनकी तक़रीर सुनकर मैं खिसयाना-सा हो जाता हूँ। कुछ चुप रहता हूँ और फिर दबी ज़बान से कहता हूँ—

"भई अब के हो सका तो वक़्त पर पहुँचेंगे। ठीक है न ?"

मेरी यह बात आमतौर पर टाल दी जाती है। क्योंकि इससे उनका दिल कुछ थोड़ा-सा बेदार हो जाता है। ख़ैर मैं भी बहुत ज़ोर नहीं देता। सिर्फ उनको बात समझाने के लिये इतना कह देता हूँ—

"क्यों भई, सिनेमा आजकल छः ही बजे शुरू होता है न।"

मिर्ज़ा साहब निहायत सादगी से जवाब देते हैं—"भई यह हमें मालूम नहीं।"

"मेरा ख़याल है छः ही बजे शुरू होता है।"

"अब तुम्हारे ख़याल की तो कोई सनद नहीं।"

"नहीं मुझे यक़ीन है, छः बजे शुरू होता है।"

"तुम्हें यक़ीन है तो मेरा दिमाग़ क्यों मुफ़्त में चाट रहे हो ?"

इसके बाद आप ही कहिये, मैं क्या बोलूँ ?

ख़ैर जनाब, जुमरात के दिन चार बजे ही उनके मकान को रवाना हो जाता हूँ। इस ख़याल से कि जल्दी-जल्दी उन्हें तैयार कराकर वक़्त पर पहुँच जायँ। दौलतख़ाने पर पहुँचता हूँ तो आदम न आदम ज़ाद। मर्दाने के सब कमरों में घूम आता हूँ। हर खिड़की में से झाँकता हूँ, हर दराड़ में से आवाज़ें देता हूँ, लेकिन कहीं से रसीद नहीं मिलती। आख़िर तंग आकर उनके कमरे में बैठ जाता हूँ। वह दस-पन्द्रह मिनट सीटियाँ बजाता रहता हूँ। दस-पन्द्रह मिनट पेन्सिल से ब्लाटिंग पेपर पर तस्वीरें बनाता रहता हूँ। फिर सिगरेट सुलगा लेता हूँ और बाहर ड्योढ़ी में निकल कर इधर-उधर झांकता हूँ। वहाँ उसी तरह सन्नाटा देखकर कमरे में वापस आ जाता हूँ और अख़बार पढ़ना शुरू कर देता हूँ। हर कालम के बाद मिर्ज़ा साहब को एक आवाज़ दे लेता हूँ। इस उम्मीद पर कि शायद साथ के कमरे में अथवा ठीक ऊपर के कमरे में तशरीफ़ ले आये हों, सो रहे थे तो मुमकिन है जाग उठे हों अथवा नहा रहे थे तो शायद ग़ुसलख़ाने से बाहर निकल आये हों। लेकिन मेरी आवाज़ मकान की बुलन्दी में से गूँजकर वापस आ जाती है। आख़िर आप साढ़े पाँच बजे के लगभग ज़नाने से तशरीफ़ लाते हैं। मैं अपने खौलतेहुए ख़ून को क़ाबू में लाकर संजीदगी और सभ्यता को बड़ी मुश्किल से ध्यान में रखकर पूछता हूँ—

"क्यों हज़रत! आप अन्दर ही थे?"

"हाँ अन्दर ही था।"

"मेरी आवाज़ आपने नहीं सुनी?"

"अच्छा, ये तुम थे। मैं समझा कोई और है।"

आंखें बन्द करके सिर को पीछे डाल लेता हूँ और दांत

पीसकर गुस्से को पी जाता हूँ। फिर कांपते हुये ओठों से पूछता हूँ—

"सो अच्छा आप चलेंगे या नहीं ?"

"वह कहाँ ?"

"अरे खुदा के बन्दे ! आज सिनेमा नहीं जाता ?"

"हाँ सिनेमा, सिनेमा (यह कह कर वे कुर्सी पर बैठ जाते हैं) ठीक है, सिनेमा। मैं भी सोच रहा था कि कोई-न-कोई बात जरूर ऐसी है जो मुझे याद नहीं आती। अच्छा हुआ तुमने याद दिला दिया, वर्ना मुझे रात भर उलझन रहती।"

"तो चलो फिर अब चलें।"

"हाँ, वह तो चलेंगे ही। मैं सोच रहा था, आज जरा कपड़े बदल लेते। खुदा जाने धोबी कम्बख्त कपड़े भी लाया है या नहीं। यार इन धोबियों का तो कोई इन्तजाम करो।"

अगर इन्सान को क़त्ल करना एक सख्त अपराध न होता, तो ऐसे मौक़े पर मैं जरूर कर बैठता; लेकिन क्या करूँ, अपनी जवानी पर रहम खाता हूँ। बेबस होता हूँ। सिर्फ यही कह सकता हूँ कि—

"मिर्जा भई, खुदा के वास्ते मुझ पर रहम करो। मैं सिनेमा चलने को आया हूँ। धोबियों का इन्तजाम करने नहीं आया। यार बड़े बदतमीज हो, पौने छः बज चुके हैं और तुम ज्यों के त्यों बैठे हो।"

मिर्जा साहब अजीब दोस्ताना मुस्कराहट के साथ कुर्सी पर से उठते हैं। मानो यह जाहिर करना चाहते हैं कि अच्छा भई तुम्हारी बचपन की इच्छाएँ आखिर हम पूरी कर ही दें।

और फिर यह कहकर अन्दर तशरीफ़ ले जाते हैं कि अच्छा, कपड़े पहन आऊँ।

मिर्ज़ा साहब का कपड़े पहनने का काम इस क़दर लम्बा है कि अगर मेरा अधिकार होता तो क़ानून की दृष्टि से उन्हें कभी कपड़े उतारने ही न देता। आध घन्टे के बाद वे कपड़े पहने हुए तशरीफ लाते हैं। एक पान मुँह में, दूसरा हाथ में। मैं भी उठ खड़ा होता हूं। दरवाजे तक पहुँच कर मुड़कर जो देखता हूं तो मिर्ज़ा साहब गायब। फिर अन्दर आ जाता हूँ। मिर्ज़ा साहब किसी कोने में खड़े कुछ कुरेद रहे होते हैं।

"अरे भाई चलो।"

"चल तो रहा हूँ यार, आखिर इतनी भी क्या आफत है?"

"और यह तुम कर क्या रहे हो?"

"पान के लिये जरा तम्बाकू ले रहा था।"

तमाम रास्ते मिर्ज़ा साहब चहल-क़दमी फ़र्माते जाते हैं। मैं हर दो-तीन मिनट के बाद अपने आपको उनसे चार-पाँच क़दम आगे पाता हूँ। कुछ देर ठहर जाता हूं। वे साथ आ मिलते हैं तो फिर चलना शुरू कर देता हूँ। फिर आगे निकल जाता हूं। फिर ठहर जाता हूँ। मतलब यह कि चलता दुगनी-तिगुनी रफ्तार से हूँ, लेकिन पहुँचता उनके साथ ही हूँ।

टिकिट लेकर अन्दर दाखिल होते हैं, तो अन्धेरा घुप। बहुतेरा आंखें झपकता हूँ, कुछ दिखाई नहीं देता। उधर से कोई आवाज़ देता है—"यह दरवाजा बन्द कर दो जी।" या अल्ला अब कहाँ जाऊँ? रास्ता, कुर्सी, दीवार, आदमी कुछ भी तो नज़र नहीं आता। एक क़दम बढ़ाता हूँ तो सिर उन बालिदयों

से जा टकराता है जो आग बुझाने के लिये दीवार पर लटकी रहती हैं। थोड़ी देर के बाद अन्धेरे में कुछ धुन्धले से चित्र दिखाई देने लगते हैं। जहाँ जरा धुन्धला-सा धब्बा दिखाई दे जाय, वहाँ समझता हूँ खाली कुर्सी होगी। कमर झुका कर उसका रुख करता हूँ। इसके पाँव को लाँघ, उसके टखनों को ठुकरा, महिलाओं के घुटनों से दामन बचा, आखिर कार किसी की गोद में जा बैठता हूँ। वहाँ से निकाल दिया जाता हूँ और लोगों के धक्कों की मदद से किसी खाली कुर्सी तक जा पहुँचता हूँ। मिर्जा साहब से कहता हूँ – "मैं न बकता था कि जल्दी चलो। खवाह-मख्वाह में हमको जलील कर वाया न! गधा कहीं का।" इसके बाद गौर करने से मालूम होता है कि साथ की कुर्सी पर जो हजरत बैठे हैं और जिनको मैं मुखातिब कर रहा हूँ, वे मिर्जा साहब नहीं, कोई अन्य बुजुर्ग हैं।

अब तमाशे की तरफ ध्यान देता हूँ और समझने की कोशिश करता हूँ कि फिल्म कौनसा है। इसकी कहानी क्या है और कहाँ तक पहुँच चुकी है। समझ में सिर्फ इतना आता है कि एक मर्द और एक औरत जो पर्दे पर बगलगीर नजर आते हैं, एक दूसरे को चाहते होंगे। इस इन्तजार में रहता हूँ कि कुछ लिखा हुआ सामने आये तो मुआमला खुले-कि इतने में सामने की कुर्सी पर बैठे हुए हजरत एक लम्बी-चौड़ी अंगड़ाई लेते हैं, जिसके बीच में कम-से-कम दो-तीन सौ फिट फिल्म गुजर जाता है। जब अँगड़ाई को लपेट लेते हैं तो सिर खुजाना शुरू करते हैं और इस के बाद हाथ को सिर से नहीं हटाते, बल्कि बाजू को उसी प्रकार टेढ़ा रखे रहते हैं। मैं लाचार सिर को नीचा करके इस चायदानी के दस्ते के बीच में से अपनी नजर के लिए रास्ता निकाल लेता हूँ और अपने बैठने के ढँग से बिलकुल

ऐसा मालूम होता हूं जैसे टिकट खरीदे बिना अन्दर घुस आया और चोरों की तरह बैठा हुआ हूँ। थोड़ी देर के बाद उन्हें कुर्सी में कोई खटमल या पिस्सू महसूस होता है, अतः वे दाईं तरफ से जरा ऊंचे होकर बाईं तरफ को झुक जाते हैं। मैं मुसीबत का मरा दूसरी तरफ झुक जाता हूँ। एक-दो मिनट के बाद वह पिस्सू दूसरी तरफ कूच कर जाता है और हम दोनों फिर से पैंतरा बदल लेते हैं। बात यह है कि यह दिल्लगी यों ही जारी रहती है। वे दायें तो मैं बायें वे बायें तो मैं दायें। उनको क्या मालूम कि अंधेरे में क्या खेल खेला जा रहा है। दिल यही चाहता है कि आगले दर्जे का टिकट लेकर उनके आगे जा बैठूं और कहूँ कि ले बेटा, देखूँ तो अब तू कैसे फिल्म देखता है।

पीछे से मिर्जा साहब की आवाज आती है—"यार तुमसे निचला नहीं बैठा जाता अब जो हमें लाये हो तो फिल्म तो देखने दो।"

इसके बाद गुस्से में आकर आंखें बन्द कर लेता हूँ और आत्म-हत्या, जहर खाना वग़ैरा बातों पर गौर करने लगता हूँ। दिल में कहता हूँ ऐसी-की-तैसी इस फिल्म की। सौ-सौ किस्में खाता हूँ कि फिर कभी न आऊँगा और अगर आया भी तो इस कम्बख्त मिर्जा से जिक्र तक न करूँगा। पाँच-छः घन्टे पहले से आ जाऊँगा। ऊपर के दर्जे में सबसे अगली कतार में बैठूँगा। मैं भी अपनी सीट पर उछलता रहूँगा बहुत बड़े तुर्रे वाली पगड़ी पहन कर आऊँगा। अपने ओवर कोट को दो छड़ियों पर फैलाकर लटका दूँगा। बहर-हाल मिर्जा के पास तक न फटकूंगा।

लेकिन इस कम्बख्त दिल को क्या करूँ । अगले हफ्ते फिर किसी अच्छे फिल्म का विज्ञापन देख पाता हूँ तो सबसे पहले मिर्ज़ा के पास जाता हूँ और बातचीत फिर वहीं से शुरू होती है कि क्यों भाई मिर्ज़ा, अगली जुमरात सिनेमा चलोगे न ?

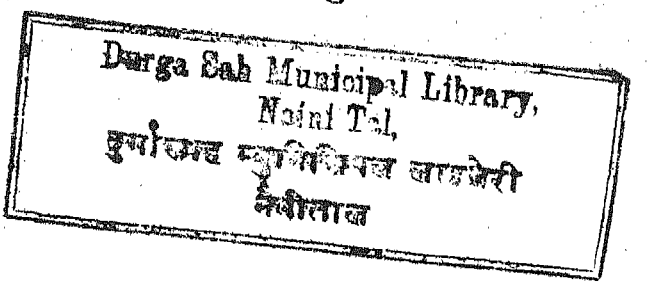
Durga Sah Municipal Library,
Naini Tal,
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाइब्रेरी
नैनीताल